



खण्ड 4

बन्धन

चतुर्थ खण्ड का परिचय

चौथे खण्ड का नाम बन्धन है। इसमें भी वर्णन के लिए चार शीर्षक हैं। कर्म के अनुसार ही जीव की उत्पत्ति होती है फिर वह उसी अनुसार बन्धन में पड़ता है। पुनः उसका जन्म होने लगता है। ऐसी स्थिति तब तक होती है जब तक मोक्ष नहीं हो जाता। अतः इसी आलोक में आप चतुर्थ खण्ड में बन्धन को जानेगें। हिन्दू सनातन में पुनर्जन्म के मूल में बन्धन भी है। मुक्त न होना बन्धन कहलाता है। इसको समझने के लिए हमें सबसे पहले जीव को जानना होता है। इसी कारण प्रथम इकाई में जीव की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। जीव ही बन्धन में आता है। बन्धन चार प्रकार का होता है। चारों प्रकारों को दूसरी इकाई की विषयवस्तु के रूप में रखा गया है। भगवद्गीता भी बन्धन की व्याख्या करती है। इस ग्रन्थ के अनुसार तीसरी इकाई में बन्धन के कारण और उसकी प्रक्रिया को बताया गया है। दर्शन के आधार पर बन्धन के विभिन्न सिद्धान्तों को स्पष्ट करने हेतु चतुर्थ इकाई में दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अतः इस खण्ड की चार इकाइयों के अध्ययन से आप जीव और बन्धन की व्याख्या करने में सफल होंगें।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 2 बन्धन का स्वरूप : परिभाषा, प्राकृत, वैकृत, दाक्षणिक

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 पुरुष और प्रकृति का बन्धन
- 2.3 बन्धन के प्रकार
- 2.4 प्राकृतिक, वैकृतिक, सांसिद्धिक पर्याय रूप में
- 2.5 सारांश
- 2.6 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.7 सन्दर्भग्रन्थ
- 2.8 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप,

- जीव के अस्तित्व के लिए बंधन की आवश्यकता को समझ सकेंगे।
- बंधन के स्वरूप एवं परिभाषा को जान सकेंगे।
- सांख्य योग-दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्राकृत, वैकृत तथा दाक्षणिक बंधन का अर्थ एवं स्वरूप जान पाएँगे।
- बंधन के पारमार्थिक व्याख्या से परिचित हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों आपने अभी पढ़ा कि जीव इस जगत् में बन्धनों के कारण ही दुःख को प्राप्त करता है। जीव को दुःख प्राप्त होना एक नियमबद्ध प्रक्रिया है। इस नियम को जानकर हम उसके परिहार का उपाय कर उन दुःखों से मुक्त हो सकते हैं। जीव का जीवत्त्व उसके गुण धर्मों में व्यावहारिक चेष्टाएँ तभी तक है जब तक वह बंधन ग्रस्त है। सांख्य तथा योगदर्शन में बन्धन के तीन प्रकारों का वर्णन किया है। जिसे प्राकृत, वैकृत तथा दाक्षणिक बन्धन कहा गया है। वाचस्पति मिश्र नामक दार्शनिक ने अपने ग्रंथ सांख्य तत्त्व कौमुदी में इन विषयों पर पर्याप्त विचार किया है।

2.2 पुरुष और प्रकृति का बन्धन

‘प्रकृति’ जड़ और नित्य है। ‘पुरुष’ के साथ-साथ ‘प्रकृति’ का अस्तित्व अनादिकाल से चला आ रहा है। ‘पुरुष’ का बिम्ब ‘प्रकृति’ पर पड़ता है जिससे ‘प्रकृति’ या ‘बुद्धि’ चेतन की तरह अपने को समझने लगती है व्युत्क्रम रूप से बुद्धि के स्वरूप का आभास पुरुष पर भी पड़ता है जिसके कारण निष्क्रिय, निर्लिप्त, निस्त्रैगुण्य ‘पुरुष’ भी कर्ता, भोक्ता, आसक्त मालूम होने लगता है। पुरुष और प्रकृति के इसी कल्पित

तथा आरोपित सम्बन्ध को बन्धन कहते हैं इसी बन्धन को दूर करना पुरुष का अपने आपको पहचानना प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही "विवेक बुद्धि" है यही मुक्ति है।

ईश्वर कृष्ण का कथन है कि महत् से लेकर भूतों तक की सृष्टि प्रकृति ही करती है और यह सृष्टि वस्तुतः प्रत्येक "पुरुष" को मुक्त करने के लिए ही होती है।

सृष्टि करने के लिए प्रकृति किसी की साहाय्य नहीं लेती पुरुष का बिम्ब जो प्रकृति पर पड़ता है वह भी किसी के प्रयत्न से नहीं। सब स्वभाव से ही होता है।

प्रकृति अचेतना होकर सृष्टि किस प्रकार कर सकती है इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है— पुरुष की अध्यक्षता में विद्यमान "प्रकृति का स्वभाव"। जिस प्रकार अचेतन दूध गाय के थन से निकल कर बछड़े की वृद्धि के लिए उसके मुँह में 'स्वभाव' ही से चला जाता है उसी प्रकार पुरुष की मुक्ति के लिए प्रकृति महत् आदि तत्वों की सृष्टि स्वभाव से ही करती है। इसमें प्रकृति का अपना स्वार्थ नहीं है वस्तुतः यह सभी परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए ही है।

पुरुष को मुक्त करने के लिए प्रकृति नाना प्रकार के उपायों को रचती है। मुक्ति एक जन्म के प्रयत्न से मिलना संभव नहीं है। इसीलिए अपने प्रभुत्व के बल से तथा धर्म, अधर्म आदि बुद्धि के आठों साहाय्य से प्रकृति एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण करती है। उसके भिन्न-भिन्न शरीर धारण करने का भी एकमात्र उद्देश्य है— पुरुष को बन्धन से छुड़ाना।

प्रकृति

सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, अर्थात् प्रकृति में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। इसलिए प्रकृति के परिणामस्वरूप इस जगत् में तथा जागतिक पदार्थों में भी ये तीनों (सत्त्व, रज, तम) गुण विद्यमान रहते हैं। जगत् के प्रत्येक पदार्थ की त्रिगुणात्मिकता इसी से सिद्ध है कि एक ही वस्तु किसी के हृदय में आनन्द, किसी के दुःख और किसी के चित्त में मोह पैदा करती है।

सांख्य में प्रकृति मूल तत्व है, वह नित्य है। चेतन के संयोग से प्रकृति के इन गुणों में जब वैषम्य आता है तब सृष्टि होती है। सृष्टि से पूर्व यह समस्त कार्यरूप जगत् प्रकृति में अव्यक्त रूप में रहता है, इसीलिए इसे अव्यक्त भी कहते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा पुरुष जगत् में विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। यह कभी मनुष्य बनता है तो कभी पशु और कभी वनस्पति आदि। इस प्रकार परशुराम, युधिष्ठिर, उदयन आदि अनेक पुरुषों का रूप धारण करने वाले नट की भाँति यह सूक्ष्म शरीर अनेक योनियों में उत्पन्न होकर अनेक शरीर धारण करता है।

वस्तुतः तो यह सूक्ष्म शरीर ही विभिन्न योनियों में संसरण करता है किन्तु अनादि अविद्या के कारण पुरुष या आत्मा उसके साथ अपना तादात्म्य या अभेद ग्रहण करने के कारण उस संसरण अर्थात् जन्म मरण को एवं उसके साथ होने वाले दुःख को अपना समझ लेता है। यही उसका बन्धन है और इसी से छुटकारा पाने के लिए सारी आध्यात्मिक साधना बताई गई है। यह छुटकारा अज्ञान मिटने पर ही मिल सकता है अथवा इसे और अच्छे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि अज्ञान से मुक्ति ही जन्म मरण से मुक्ति है, दुःखों से मुक्ति है, अज्ञान से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान ही हो सकता है। "तस्मान्न बध्यतेऽद्वा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित संसरति बध्यते मुच्यते च

नानाश्रया प्रकृतिः ।।”

अर्थ इसलिए पुरुष न बँधता है, न मुक्त होता है, न ही संसरण करता है। अनेक (उपाधि) का आश्रय करने वाली प्रकृति बंधती है, मुक्त होती है और संसरण करती है।

अपरिणामित्व तथा निर्गुणत्व के किसी पुरुष का न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष होता है। अनेक पुरुषों के आश्रय में रहने वाली बुद्धि रूप प्रकृति का ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार “यह निश्चित है कि पुरुष का बन्धन, संसरण और मोक्ष आदि कुछ नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष केवल प्रकृति अर्थात् लिंग शरीर के ही माने जाते हैं। पुरुष में केवल इनको आरोपित किया जाता है, जैसे कि विजय और पराजय सैनिक की ही होती है परन्तु राजा एवं स्वामी में आरोपित की जाती है जब तक प्रकृति और पुरुष का भेद, पुरुष को तत्व-बोध के रूप में नहीं होता तभी तक भोग और अपवर्ग पुरुष के ही होते हैं।

साक्षात् न कोई बद्ध होता है न छूटता है, न जन्मान्तर में घूमता है। प्रकृति ही नाना आश्रय (देव, मनुष्य योनि) वाली हुई घूमती बन्धती और छूटती है। अज्ञान जो बन्ध का कारण और ज्ञान जो मोक्ष का कारण है और धर्म अधर्म जो संसार के कारण है यह बुद्धि के धर्म है इनका साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि से है क्योंकि परिणाम बुद्धि में होता है, पुरुष अपरिणामी है। इसलिए इनका फल जो बन्ध मोक्ष और संसार है उनका भी साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि से है पुरुष एक रस रहता है बन्ध में भी मोक्ष में भी और संसार में भी। हाँ, बुद्धि में भेद होता है अज्ञान में जो अवस्था बुद्धि की होती है, ज्ञान में उससे भिन्न हो जाती है।

इस प्रकार प्रकृति ही अपना बन्धन करती है और मुक्त भी होती है तथा संसरण भी करती है। सृष्टि के आदि में जो सूक्ष्म तन्मात्रिक शरीर है वही त्रयोदश विध इन्द्रियों से संयुक्त होकर त्रिविध बन्ध से बद्ध होकर संसरण करता है वह बन्ध-प्रकृति, वैकारिक एवं दक्षिणा बन्ध है।

गौड़पादभाष्य में कहा गया है—

**प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च
दक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते ।**

बन्ध, मोक्ष तथा संसरण प्रकृति का ही होता है क्योंकि पुरुष तत्व निर्गुण, अपरिणामी निष्क्रिय तथा अकर्ता आदि है, जिसके फलस्वरूप वह न तो बन्धन को प्राप्त करता है, न ही उसकी मुक्ति होती है और न ही संसरण करता है।

“पुरुषों न बद्धयते, नापि मुच्यते, नापि संसरति”

प्रकृति किन गुणों से अपने को बांधती है? और किन गुणों से अपने को मुक्त करती है?

**रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।।**

प्रकृति अपने को सात भावों से बन्धन को प्राप्त करती है वे सात भाव-अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य। इन सात भावों से प्रकृति अपने आपको बंधन

में डालती है और वही फिर पुरुषार्थ के लिए (पुरुष का परम प्रयोजन मोक्ष सम्पादन करना है, इसके लिए) एकरूप (ज्ञान रूप) से अपने आप को छुड़ाती है। अर्थात् यह ज्ञान रूप से निवृत्ति ही मुक्ति कही गई है।

पद्मचशिखाचार्य

पद्मचशिखाचार्य के अनुसार अज्ञान बन्धन का मुख्य कारण है।

व्यक्तमव्यक्तं वा सत्वमात्मत्वेनामि प्रतीत्य तस्य सम्पदं मनुनन्दत्यात्म सम्पदं मन्वानस्तस्यव्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।

चेतन या अचेतन वस्तु को आत्मा की तरह समझकर उसकी सम्पत्ति से आनन्दित होता है, अपनी सम्पत्ति समझता हुआ और उसकी विपत्ति से शोक में डूबता है अपनी विपत्ति समझता हुआ, ऐसा हर एक पुरुष मूढ़ है।

यहाँ बन्धन अर्थात् अविद्या और अज्ञान का स्वरूप दिखाया गया है। पुरुष का आत्मा जैसे उसके कमाए धन आदि या रहने के घर आदि या उसकी अन्य सम्पत्ति से अलग है। पुरुष का आत्मा पुरुष के शरीर से भी अलग है इनके घटने (सम्पत्ति) बढ़ने, मृत्यु आदि से आत्मा का कुछ नहीं घटता बढ़ता तथापि पुरुष अपने स्वरूप को न जानता हुआ वह इतना भूलता है कि न केवल शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर के सुख-दुःख से सुखी दुःखी होता है, अपितु पुत्र, पत्नी पशु आदि चेतन और धन-धान्य आदि अचेतन वस्तुओं में ऐसा बन्धन बाँध लेता है कि मानो वह उसका आत्मा है अतएव उनकी सम्पदा देखकर अपने आपको सम्पदा वाला मान लेता है और उनकी विपदा देखकर अपने आपको विपदा वाला मान लेता है। पुत्र के मरने से कहता है 'मैं मर गया'। धन क्षीण होने से कहता है, "मैं क्षीण हो गया"। यह सब उसके लिए अपने आपको भूलने का फल है। वस्तुतः आत्मा न उनकी सम्पदा से सम्पन्न हुआ, न विपत्ति से विपन्न हुआ। वस्तुतः इस बन्धन का मूल कारण अज्ञान है अर्थात् मूल बुद्धि और पुरुष का अविवेक है।

बुद्धितः परं पुरुषामाकार शीलविद्यादिभिर्विभक्तम पश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन।।

बुद्धि से परे पुरुष को स्वरूपशील और विद्या आदि से अलग न देखता हुआ मोह (भूल) से उसमें आत्म बुद्धि कर लेता है।

पुरुष और बुद्धि दोनों अलग-अलग है पुरुष का स्वरूप शुद्ध, शील-उदासीनता और विद्या, चेतनता का है, इसके विपरीत बुद्धि का स्वरूप त्रिगुणात्मिका होने से अशुद्ध, अनुदासीन और जड़ है। पुरुष बुद्धि से अलग है फिर भी उसे अलग न समझता हुआ भूल से बुद्धि को आत्मा समझ लेता है और बन्धन में रहता है।

2.3 बन्धन के प्रकार

कपिल मुनि प्रणीत तत्व समास में कहा गया है—

“त्रिविधो बन्धः” “त्रिविधो मोक्षः”

तीन प्रकार का बन्धन है— दाक्षिणक, वैकारिक और प्राकृतिक

दाक्षिणक

जो साक्षात्कार से शून्य रहकर फल कामना के अधीन होकर केवल इष्ट पूर्त कर्मों में रत है, वह दाक्षिण मार्ग से चन्द्रलोक में फल भोगकर फिर आते हैं क्योंकि वह अभी

मुक्त नहीं हुए हैं। इष्ट का अर्थ है वेद में वर्णित विविध यज्ञ और पूत का अर्थ है पुराणों में वर्णित परोपकार के कार्य, जैसे— वाटिका, बावड़ी, कूप धर्मशाला आदि का निर्माण जो आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जानता वह यज्ञ और परोपकार कार्यों की अभिलाषा से उन कार्यों में मनोयोगपूर्वक व्याप्त होता है और बन्धनों से आबद्ध होता है।

वैकारिक (वैकृतिक) बन्धन

जो इन्द्रिय और मन इन विकारों को ही उपासना द्वारा साक्षात् कर रहे हैं वह भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर फिर जन्म धारण करते हैं, यह वैकृतिक बन्धन है। जो प्रकृति के कार्यभूत—इन्द्रिय—अहंकार और बुद्धि तत्व को आत्मा समझकर उन्हीं की आत्मभाव से उपासना करते हैं उन्हें वैकारिक बन्ध होता है।

प्राकृतिक बन्धन

जो विकारों से आगे पहुँचकर आठ प्रकृतियों (अव्यक्त महत् अहंकार पंचतन्मात्रा (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) को ही साक्षात् कर रहे हैं, वही भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर डुबकी लगाए हुए पुरुष की तरह फिर उठते हैं उनका यह बन्ध प्राकृतिक कहलाता है। अर्थात् जो लोग प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की आत्म रूप में उपासना करते हैं उन्हें प्राकृतिक बन्धन होता है और वे प्रकृति में आत्म चिन्तन करने के फलस्वरूप पूरे शतसहस्र (1,00,000) वर्ष तक प्रकृति में मुक्त कल्प होकर अवस्थित रहते हैं।

इन तीनों बन्धनों की दो कोटि होती है— पूर्वकोटि और उत्तर कोटि

उत्तर कोटि

वे योगी जो प्रकृति आदि में आत्मचिन्तन कर प्रकृति में लीन होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं उनको मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर संसार में पुनः आना पड़ता है।

पूर्व कोटि

जो संसारी जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करके मुक्त होते हैं उन्हें बन्धनों की पूर्व कोटि होती है क्योंकि मुक्ति के बाद उन्हें किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता।

ईश्वर में बन्धन की ये दोनों कोटियाँ नहीं होती इसलिए ईश्वर निर्बाध रूप से नित्य मुक्त होता है। जैसा कि पतंजलि ने अपने योग दर्शन में कहा है कि— “जो पुरुष क्लेश— कर्म—विपाक और आशयों से कभी भी संयुक्त नहीं होता वह पुरुष विशेष ही ईश्वर है।”

2.4 प्राकृतिक, वैकृतिक, सांसिद्धिक पर्याय रूप में

“वाचस्पति मिश्र” ने बुद्धि के ज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य अज्ञान आठों भावों को प्राकृतिक तथा वैकृतिक दो कोटियों में रखा है तथा मूल के “सांसिद्धिक” पद को प्राकृतिक पद का लक्षण माना है, उसकी परिभाषा माना है।

“नारायण तीर्थ” ने भी वाचस्पति मिश्र का ही अनुसरण करते हुए “सांख्य चन्द्रिका” टीका में प्राकृतिक वैकृतिक दो ही कोटि माने हैं।

“गौडपाद” ने प्राकृतिक, वैकृतिक के अतिरिक्त सांसिद्धिक को तीसरी कोटि में रखा है अर्थात् सांसिद्धिक को अलग प्रकार मानते हैं।

“युक्तिदीपिकाकार” ने भी सांसिद्धिक को प्राकृतिक से पृथक तीसरी कोटि माना है। कुछ स्थलों पर यह भी कहा गया है कि सांसिद्धिक और असांसिद्धिक ये दो भाव प्राकृतिक भाव सांसिद्धिक एवं वैकृतिक भाव असांसिद्धिक है।

माटर वृत्ति में कहा गया है कि धर्मादि भाव सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृतिक नाम वाले कहे जाते हैं।

माटर तथा गौडपाद के अनुसार भगवान कपिल के साथ उत्पन्न धर्मादि भाव सांसिद्धिक भाव तथा ब्रह्मा के सनकादि मानस पुत्रों के षोडशवर्ष में अकस्मात् उत्पन्न धर्मादि भाव प्राकृतिक कहे गये हैं। जहाँ पर विकारी तत्वों को निमित्त मानकर धर्मादि भाव उत्पन्न होते हैं वे वैकृतिक भाव कहलाते हैं।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार सर्गादि में कपिल के साथ उत्पन्न हुए धर्मादि भाव प्राकृतिक हैं तथा जो उपायों के अनुष्ठान निमित्त होते हुए धर्मादि भाव उत्पन्न होते हैं वे वैकृतिक कहे जा सकते हैं।

त्रिविधो मोक्षः

दाक्षिणक, वैकारिक और प्राकृतिक यह तीनों बन्धन से छूटना तीन प्रकार का मोक्ष है। निष्काम होना दाक्षिणक बन्ध से मोक्ष है और विकृति और प्रकृति से चित्त के परे ले जाकर अपने स्वरूप में स्थिति लाभ करना वैकारिक और प्राकृतिक बन्ध से मोक्ष है।

2.5 सारांश

अभी तक आपने सांख्यदर्शन के अनुसार प्राकृत, वैकृत तथा दाक्षिणिक बन्धन के बारे में विस्तृत अध्ययन किया। अब हम आपको संक्षेप में बतायेंगे।

जो साक्षात्कार से शून्य रहकर फल कामना के अधीन होकर केवल इष्ट पूर्त कर्मों में रत है, वह दक्षिण मार्ग से चन्द्रलोक में फल भोगकर फिर आते हैं क्योंकि वह अभी मुक्त नहीं हुए हैं। इष्ट का अर्थ है वेद में वर्णित विविध यज्ञ और पूर्त का अर्थ है पुराणों में वर्णित परोपकार के कार्य, जैसे— वाटिका, बावड़ी, कूप धर्मशाला आदि का निर्माण जो आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जानता वह यज्ञ और परोपकार कार्यों की अभिलाषा से उन कार्यों में मनोयोगपूर्वक व्याप्त होता है और बन्धनों से आबद्ध होता है।

जो इन्द्रिय और मन इन विकारों को ही उपासना द्वारा साक्षात् कर रहे हैं वह भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर फिर जन्म धारण करते हैं, यह वैकृतिक बन्धन है। जो प्रकृति के कार्यभूत—इन्द्रिय—अहंकार और बुद्धि तत्व को आत्मा समझकर उन्हीं की आत्मभाव से उपासना करते हैं उन्हें वैकारिक बन्ध होता है।

जो विकारों से आगे पहुँचकर आठ प्रकृतियों (अव्यक्त महत् अहंकार पंचतन्मात्रा (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) को ही साक्षात् कर रहे हैं, वही भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर डुबकी लगाए हुए पुरुष की तरह फिर उठते हैं उनका यह बन्ध प्राकृतिक कहलाता है। अर्थात् जो लोग प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की आत्म रूप में उपासना करते हैं उन्हें प्राकृतिक बन्धन होता है और वे प्रकृति में आत्म चिन्तन करने के फलस्वरूप पूरे शतसहस्र (1,00,000) वर्ष तक प्रकृति में मुक्त कल्प होकर

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

एकात्म्यबुद्धि : जिसकी बुद्धि, आत्मा के साथ एकाकार कर लिया हो, उसे एकात्म्यबुद्धि कहा जाता है।

लोकसंग्रहार्थ-कर्म : भगवद्गीता में लोकसंग्रह शब्द (पब्लिक वेलफेयर) के लिये आया है। जो कार्य सामान्यजन के हित के लिये किया जाता है, उस कर्म को भगवद्गीता 'लोकसंग्रहार्थ-कर्म' की संज्ञा दी गयी है।

इन्द्रिय-निग्रह : भारतीय परम्परा में व्यक्ति का व्यक्तित्व, शरीर और आत्मा का मिलन स्थल है। शरीर जड़ है, और आत्मा चेतन। जड़ पदार्थों का ज्ञान शरीर को जिस माध्यम से होता है, उसे इन्द्रिय कहा जाता है। पाँच स्थूल इन्द्रियां हैं और मन आन्तरिक इन्द्रिय है। इन्द्रियों का स्वरूप है कि ये अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। अर्थात् वर्धित होती है। इनको जब वर्धित के स्थान पर अर्न्तवर्ती होने का अभ्यास डाला जाता है, तो उसे इन्द्रिय-निग्रह कहा जाता है। इन्द्रिय-निग्रह के माध्यम से जीव उस आत्मतत्त्व तक पहुँचता है, जहाँ पर जड़ और चेतन दोनों एक हो जाते हैं।

2.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2008
3. गीतारहस्य, बालगंगाधर तिलक, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, 2017
4. सांख्यदर्शन का इतिहास, उदयवीर शास्त्री,

2.8 बोधप्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया तथा उससे मुक्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
2. मन ही बन्धन का कारण है, इस कथन की विवेचना भगवद्गीता के आलोक में कीजिए।
3. बन्धन से सम्बन्धित भगवद्गीता में उल्लिखित महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ अपने शब्दों में लिखिए।
4. निष्काम कर्म से जीव को बन्धन नहीं प्राप्त होता, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

इकाई 3 श्रीमद्भगद्गीता के अनुसार बन्धन के कारण और प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 गीता में स्वातन्त्र्यवाद
- 3.3 गीतोक्त बन्धन का स्वरूप
- 3.4 बन्धन प्रक्रिया
- 3.5 सारांश
- 3.6 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.7 सन्दर्भग्रन्थ
- 3.8 बोधप्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

1. श्रीमद्भगवद्गीता जीवबन्धन के अर्थ एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।
2. श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जीवबन्धन की प्रक्रिया पढ़ सकेंगे।
3. मन ही बन्धन का कारण है, इस तथ्य को जान सकेंगे।
4. मन और आत्मा के मध्य क्या सम्बन्ध है, इसे समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पूर्व की ईकाई में आपने विभिन्न दर्शन में वर्णित बन्धन की अवधारणा को पढ़ चुके हैं। इस ईकाई में भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया विषयक सिद्धान्त को आप पढ़ने जा रहे हैं। भगवद्गीता उपनिषदों का सार है। इसलिये वेदान्त का सर्वमान्य ग्रन्थ है। अल्प शब्दों में वेदान्त के समग्र सिद्धान्तों को प्राप्त करना है, तो आपको भगवद्गीता एक सर्वमान्य एवं उपयोगी ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। उपनिषदों की भाँति ही भगवद्गीता भी आत्मविद्या अर्थात् मोक्षशास्त्र है।

भगवद्गीता में मोक्ष के संभव सभी मार्गों को विवेचन सार रूप में प्राप्त होता है। मोक्ष, साधन तथा मोक्षावस्था के वर्णन के साथ-साथ हमें बन्धन के स्वरूप एवं प्रक्रिया सम्बन्धी विवेचना प्राप्त होता है। भगवद्गीता के अध्याय द्वितीय के श्लोक संख्या (गीता 2.62–67) तक बन्धन प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वमान्य आत्मविद्या का ग्रन्थ है, इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने उपदेश में बन्धन की प्रकृया को बताया है। मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए मन और इन्द्रियों का निग्रह करना आवश्यक है। इन्द्रियों का उसके विषयों में जुड़े रहने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इसे प्रवृत्ति की आसक्ति कहते हैं। आसक्ति से काम-वासना उत्पन्न होती है। काम-वासना के पूरे नहीं हो सकने पर

क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह, मोह स्मृति का नाश और स्मृति नाश से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य का पतन हो जाता है। बन्धन की इस प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन आप पढ़ने जा रहे हैं—

3.2 गीता में इच्छास्वातन्त्र्यवाद

गीता ने व्यवस्था दी है—

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः, आत्मैव रिपुरात्मनः ॥

‘व्यक्ति स्वयं अपने को ऊपर उठाये, वह अपने को नीचे न गिराये, क्योंकि केवल आत्मा ही उसका सच्चा मित्र है और केवल आत्मा ही उसका शत्रु है।’ प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार दोनो, अर्थात् प्रारब्धवाद एवं इच्छास्वातन्त्र्यवाद को स्वीकार करना सम्भव है, प्रथम के अनुसार व्यक्ति किसी विशिष्ट वातावरण में जन्म लेता है और दूसरे के अनुसार व्यक्ति का इस जीवन के कर्मों से सम्बन्ध है। प्रारब्धवाद (देववाद) के अनुसार व्यक्ति का किसी विशिष्ट वातावरण में जन्म लेना निश्चित रहता है और इच्छास्वातन्त्र्यवाद के अनुसार व्यक्ति अपने उपस्थित जीवन के कर्मों के प्रति स्वतन्त्र रहता है। भगवद्गीता तो पापी के लिये भी आशा बँधाती है कि सुधार करने के लिये देरी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए अर्थात् देरी हो जाने पर भी सुधार का आरम्भ किया जा सकता है और पुनः कहा है कि सदाचार का अल्पांश भी महान् भय से व्यक्ति की रक्षा करता है और व्यवसाय कभी नष्ट नहीं होता।

यद्यपि गीता का सामान्य झुकाव इच्छास्वातन्त्र्यवाद के सिद्धान्त की ओर ही है तथापि कुछ ऐसी उक्तियाँ भी हैं जिनमें पूर्वनिर्धारणवाद (प्रारब्धवाद, अर्थात् वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सबकुछ पहले से ही निश्चित रहता है, इस जीवन में क्या होगा, यह पहले से ही निश्चित है) की झलक मिलती है। यथा, प्रकृतिजन्य गुणों के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को असहाय रूप से कर्म करने पड़ते हैं— ‘हठवादिता के कारण तुम सोचते हो, ‘मैं युद्ध नहीं करूँगा’, तुम्हारी यह प्रतिज्ञा व्यर्थ है, तुम्हारा स्वभाव तुम्हें वैसा करने को बाध्य करेगा, तुम अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्मों से ही विवश होकर असहाय रूप में वह कार्य करोगे जिसे तुम करना नहीं चाहते हो। यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बचपन के वातावरण के विषय में इच्छा की स्वतन्त्रता की बात ही नहीं उठती।

3.3 गीतोक्त बन्धन का स्वरूप

भगवद्गीता का आविर्भाव महाभारत में श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से माना जाता है। वस्तुतः यह महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। गीता के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह सबसे अद्भुत, सुन्दर यथार्थता पर आधारित एक दार्शनिक काव्य है। जो शायद ही अन्य किसी भाषा में इस प्रकार का काव्य लिखा गया हो।

गीता का उपदेश वस्तुतः कर्म करने का पथ है। गीता द्वारा आदेश दिया गया है कि कर्म ही के द्वारा समस्त विश्व के साथ हमारा सम्बन्ध स्थिर रहता है। नैतिकता की समस्या केवल मानवीय जगत् से ही सम्बन्ध रखती है। जगत् के समस्त पदार्थों में केवल मनुष्य की ही आत्मा ऐसी है, जो अपनी जिम्मेदारी का विचार रखती है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ —भगवद्गीता 2/71

अर्थात् जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़कर स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर व्यवहार करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है।

मनुष्य की महत्वाकांक्षा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए होती है, किन्तु वह जगत् के भौतिक तत्वों से इसे प्राप्त नहीं कर सकता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ —भगवद्गीता 6/22

अर्थात् जहां पर स्थित होकर या जिस अवस्था को पाकर योगी उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं मानता है, वह बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता।

जिन सुखों की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है वे विभिन्न प्रकार के हैं। भ्रान्त मन एवं मिथ्या प्रकार की इच्छाओं से जिस सुख की प्राप्ति होती है उसमें तो अधिकतर तमाशा ही रहता है, और इन्द्रियों से जो सुख प्राप्त होता है उसमें रजोगुण अधिक रहता है और आत्मज्ञान का जो सुख है उसमें सत्त्वगुण का भाव अधिकांश में रहता है। सबसे उन्नत कोटि का सन्तोष तभी हो सकता है कि जब मनुष्य अपने को एक स्वतन्त्र कर्ता समझना छोड़कर यह अनुभव करने लगता है कि ईश्वर अपनी अनन्त कृपा से जगत् का मार्ग प्रदर्शन करता है। सत्कर्म वह है जो मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराने और आत्मा को पूर्णता प्राप्त कराने में सहायक होता है।

हमें कोई ना कोई कर्म करना ही पड़ता है। बिना कर्म किये कोई प्राणी नहीं रह सकता है। राधा कृष्णन् ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिससे हमारा ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के साथ यथार्थ ऐक्य भाव अभिव्यक्त हो सके वही शुद्ध आचरण है, और अशुद्ध आचरण वह है जो यथार्थता के इस अनिवार्य संगठन के सम्पादन में असमर्थ हो। किसी प्रकार की आपत्ति आने पर मनुष्य अपने धर्म से न डिगे और उसके कारण उसका मरण भी हो जाये तो वह मरण भी उसके लिए कल्याण करने वाला हो जाता है। आगे भगवान् कृष्ण बोलते हैं—

काम् एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥37॥

श्री भगवान् बोले— रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषय में वैरी जान ॥37॥

इसको आगे इसे विस्तार या सरल में समझेंगे कि मनुष्य को बिना इच्छा पापों में नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है यह काम ही इस मनुष्य को नाना प्रकार के भोगों में आसक्त करके उसे बलपूर्वक पापों में प्रवृत्त करता है; इसलिए यह महान् पापी है।

उल्लिखित श्रुति का संक्षिप्त अर्थ यह है कि सृष्टि से पूर्व प्रथम एक ही आत्मा था, उसने इच्छा की कि मेरे स्त्री हो, उसकी कामना होते ही स्त्री हो गयी। फिर इसमें पुत्रादि सन्तान हो— इस प्रकार इच्छा होने पर सन्तान भी हो गयी। सन्तान होने पर द्रव्य की भी आवश्यकता हुई। इसलिए द्रव्य की कामना की, द्रव्य भी प्राप्त हुआ। द्रव्यलाभ का फल साधु कर्म करना है इसलिए उसने संकल्प किया कि साधु कर्म करें इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्नावस्था में पुरुष अकेला ही सोता है इस स्थिति में स्वप्न में कल्पना होती है कि रेलगाड़ी पर चढ़ें। रेलगाड़ी में सब पथिक उपस्थित

होते हैं। जहाज पर चढ़ने की इच्छा हुई तो जहाज, समुद्र सब स्वप्न में उपस्थित होते हैं। वास्तविक वे हैं नहीं, किन्तु उस समय कल्पना से सब दीख पड़ते हैं उनके उपयोग से सुख भी होता है।

उस समय उसको हम यथार्थ ही समझते हैं, परन्तु जागने पर वास्तविक तत्व ज्ञान होता है कि ये सब काल्पनिक थे, वास्तविक नहीं। एवं संसारदशा में जीव के कल्पनानुसार अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। पर इनकी वास्तविकता पर विचार करने से स्वाप्निक के समान ही ये भी सिद्ध होते हैं। इनका निवर्तक आत्मसाक्षात्कार और रेल का निवर्तक जागरण है, इत्यादि। श्री भगवन् कहते हैं कि अनर्थ मार्ग में बल से प्रवृत्त कराने वाले के विषय में जो तुमने पूछा है वह यह सर्वलोकानुभवसिद्ध महाशत्रु काम हैं, तन्निमित्तिक ही सब अनर्थों की प्राप्ति प्राणियों को होती है।

शंका— काम का ही नाम क्यों लेते हैं, क्रोध भी तो अनर्थ बहुल श्येनादि याग में प्रवृत्तक है अतः उसका भी नाम कहना चाहिए?

समाधान— क्रोध भी तत्त्वतः काम ही है।

प्रश्न— कैसे?

उत्तर— किसी कामना से किसी कर्म में प्रवृत्त हुए पुरुष को उस कर्म में कोई विघ्न डालता है तो जब वह कर्म पूर्ण नहीं होता, तो वह क्रोध रूप से परिणत हो जाता है, अतः क्रोध भी काम ही है। इसी महाशत्रु काम का निवारण करने से सब पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। उसके निवारण के उपायज्ञान के लिए काम को कारण कहते हैं। **रजोगुणसमुद्भवः** रजो गुण से काम होता है। इसलिए इसका कारण रजोगुण है; क्योंकि कार्यकारण स्वाभावनुयायी होता है। इसलिए इस रजोगुण के जो स्वभाव दुःखप्रवृत्ति हैं तद्वत् काम भी है। इससे सात्त्विक प्रवृत्ति से रजोगुण के क्षीण होने पर काम भी क्षीण होता है जैसे बैल के क्षीण होने पर प्रदीपप्रकाश भी क्षीण होता है, यह उक्तप्राय ही है।

धूमेनात्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।

यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥38॥

जिस प्रकार धूँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जरायु (उल्ब) से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है।

इस कथन से यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषों के रूप में परिणत होकर मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित किये रहता है।

इस कथन से यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण— इन तीनों दोषों के रूप में परिणत होकर मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित किये रहता है। यहाँ 'धूँ' के स्थान में 'विक्षेप' को समझना चाहिये। जिस प्रकार धूँ चंचल होते हुए भी अग्नि ज्ञान को ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चंचल होते हुए भी ज्ञानको ढका रहता है, क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरण में ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है। मैल के स्थान में 'मल' दोष को समझना चाहिये। जैसे दर्पण पर मैल जम जाने से उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापों के द्वारा अन्तःकरण के अत्यन्त मलिन हो जाने पर उसमें वस्तु या कर्तव्य का यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता एवं जेर के स्थान में 'आवरण' को

समझना चाहिए। जैसे जैर से गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरण से ज्ञान सर्वथा ढका रहता है। जिसका अन्तःकरण अज्ञान से मोहित रहता है वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादि के सुख में फँसकर किसी प्रकार का विचार करने में प्रवृत्त ही नहीं होता।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और हे अर्जुन! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले काम रूप ज्ञानियों के नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढका हुआ है।

आगे भगवान् बोलते हैं— यहाँ 'ज्ञानी' शब्द यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधन करने वाले विवेकशील साधकों का वाचक है। यह कामरूप शत्रु उन साधकों के अन्तःकरण में विवेक, वैराग्य और निष्काम भाव को स्थिर होने नहीं देता, उनके साधन में बाधा उपस्थित करता रहता है। इस कारण इसको ज्ञानियों का 'नित्यवैरी' बतलाया गया है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि— ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।

यह 'काम' मनुष्य के मन, बुद्धि और इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर उसकी विवेक शक्ति को नष्ट कर देता है और भागों में सुख दिलाकर उसे पापों में प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्य का अधः पतन हो जाता है। इसलिए शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिए।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान् पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।

भगवान् के निर्गुण—निराकार तत्त्व के प्रभाव, महात्म्य और रहस्य से युक्त यथार्थ ज्ञान को 'ज्ञान' तथा सगुण—निराकार और दिव्य साकार तत्त्व के लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभाव से युक्त यथार्थ ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान और विज्ञान की यथार्थ प्राप्ति के लिए हृदय में जो आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् वामरूप शत्रु अपनी मोहिनी शक्ति के द्वारा नित्य—निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकांक्षा की जागृति से उत्पन्न ज्ञान—विज्ञान के साधनों में बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसलिए काम को उनका नाश करने वाला बतलाया गया है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानि श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है।

आत्मा सब का आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ, बलवान् और नित्य चेतन होने के कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहा गया है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबहो कामरूपं दुरासदम् ।।43 ।।

इस प्रकार बुद्धि से पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! तु इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव— इन सभी का वाचक आत्मा है। उनमें से सर्वप्रथम इन्द्रियों को वश में करने के लिए इकतालीसवें श्लोक में कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियों के अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वश में करने वाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धि को मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। इसलिए 'आत्मानम्' का अर्थ 'मन' और 'आत्मना' का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

कामरूपी आसक्ति को छोड़कर स्वधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ समस्त कर्म करने के लिए इन्द्रियों पर अपनी सत्ता होनी चाहिए, वे अपने काबू में रहें; बस, यहाँ इतना ही इन्द्रिय—निग्रह विवक्षित है। यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों को ही जबरदस्ती से एकदम मार करके सारे कर्म छोड़ दे। गीतारहस्य (परि. पृ. 526) में दिखलाया गया है कि "इन्द्रियाणि परारायतु" इत्यादि 42वाँ श्लोक कठोपनिषद् का है और उसी उपनिषद् के अन्य चार—पाँच श्लोक भी गीता में लिये गये हैं। क्षेत्र—क्षेत्रज्ञ विचार का यह तात्पर्य है कि बाह्य पदार्थों के संस्कार ग्रहण करना इन्द्रियों का काम है, मन का काम इनकी व्यवस्था करना है, और फिर बुद्धि इनको अलग—अलग छाँटती है, एवं आत्मा इन सब से परे है तथा सब से भिन्न है। इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्य के छठे प्रकरण के अन्त (पृ. 131—148) में किया गया है। कर्म—विपाक के ऐसे गूढ़ प्रश्नों का विचार, गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. 277—285) में किया गया है कि अपनी इच्छा न रहने पर भी मनुष्य काम—क्रोध आदि से प्रवृत्ति—धर्मों के कारण कोई काम करने में क्यों कर प्रवृत्त हो जाता है; और आत्मस्वतन्त्रता के कारण इन्द्रिय—निग्रह रूप साधन के द्वारा इससे छुटकारा पाने का मार्ग कैसे मिल जाता है। गीता के छठे अध्याय में विचार किया गया है कि इन्द्रिय—निग्रह कैसे करना चाहिये। गीता के तीसरे अध्याय के श्लोक— 37—43 में बन्धन के मूल कारण के विषय को हमने विस्तार से समझा।

3.4 बन्धन प्रक्रिया

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में बन्धन प्रक्रिया इस प्रकार बतलायी गयी है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संचायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।62 ।।

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। इस सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का इन विषयों में सङ्ग बढ़ता जाता है। फिर इस सङ्ग से यह वासना उत्पन्न होती है, कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये। तथा इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है; जैसे ये मेरे अत्यन्त सुख हेतु है 'इत्याकारक शोभनाध्यासलक्षण प्रीति सङ्ग है। सुखहेतुत्वज्ञानलक्षण सङ्ग से कामअभिलाषा उत्पन्न होता है। 'मेरे ये सदा रहें, इनका मुझसे वियोग किसी समय न हो'— यह तृष्णाविशेष काम अर्थात् अभिलाष कहलाता है। इसका मन से यदि उक्त कामनाविषयक पदार्थ से कोई विघात करने के लिए प्रवृत्त होता है, तो प्रतिधातक

विषय क्रोध चिन्ताभिज्वलनात्मक उत्पन्न होता है। क्रोध से चित्त गरम हो जाता है। क्रोध से सम्मोह = कार्याकार्यविवेकाभाव का (क्या करना, क्या न करना, इसका) परिज्ञान लुप्त हो जाता है। सम्मोह से स्मृतिविभ्रम होता है अर्थात् शास्त्राचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थ के स्मरण का नाश होता है। शास्त्र में क्या करने को लिखा है? आचार्य का कर्तव्याकर्तव्य विषय का उपदेश क्या है? इन दोनों का लोप हो जाता है। इस स्मृतिविभ्रम से एकात्माकार बुद्धि का नाश होता है।

क्रोधादभवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।63।।

क्रोध से अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है। क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक होता है, सम्मोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से व्यक्ति का सर्वस्व नाश हो जाता है।

बुद्धिनाश से प्रणाश होता है, फलभूत एकात्म्यबुद्धि के लोप से पुरुष का प्रणाश होता है। यद्यपि स्वरूप से पुरुष नष्ट नहीं होता, तथापि सब पुरुषार्थ के अयोग्य होता है। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें कोई भी पुरुषार्थ नष्टबुद्धि पुरुष को नहीं होता। **पुरुषार्थायोग्यत्वेन औपरिक नाश** का प्रयोग प्रकृत में है, इसको स्पष्ट कहते हैं— जो पुरुष पुरुषार्थ के योग्य नहीं है उसको लोक में मृत ही कहते हैं, इस भाव से 'प्रणश्यति' कहा है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियश्चरन्।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।64।।

परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। परन्तु अपना आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसके काबू में है। वह पुरुष प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी (चित्त) से प्रसन्ना रहता है।

साधारण मनुष्यों की इन्द्रियाँ स्वतन्त्र होती है, उनके वश में नहीं होती; उन इन्द्रियों में राग-द्वेष भरे रहते हैं। इस कारण उन इन्द्रियों के वश होकर भोगों को भोगने वाला मनुष्य उचित-अनुचित का विचार न करके जिस किसी प्रकार से भोग-सामग्रियों के संग्रह करने और भोगने की चेष्टा करता है और उन भोगों में राग-द्वेष करके सुखी-दुःखी होता रहता है; उसे आध्यात्मिक सुख का अनुभव नहीं होता; किन्तु उपरोक्त साधक की इन्द्रियाँ उसके वश में होती है और उनमें राग-द्वेष का अभाव होता है— इस कारण वह अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थिति के अनुसार योग्यता से प्राप्त हुए भोगों में बिना राग-द्वेष के विचरण करता है; उसका देखना-सुनना, खाना-पीना, उठना-बैठना, बोलना-बतलाना, चलना-फिरना और सोना-जागना आदि समस्त इन्द्रियों के व्यवहार नियमित और शास्त्रविहित होते हैं; उसकी सभी क्रियाओं में राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ आदि विकारों का अभाव होता है। यही उसका अपने वश में की हुई राग-द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करना है। वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा बिना राग-द्वेष के व्यवहार करने से साधक का अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्ति का अनुभव होता है

(18/37); उस सुख और शान्ति का वाचक यहाँ “प्रसादम्” पद है। इस सुख और शान्ति के हेतु रूप अन्तःकरण की पवित्रता को और भगवान् के अर्पण की हुई वस्तु अन्तःकरण को पवित्र करने वाली होती है, इस कारण उसको भी प्रसाद कहते हैं।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।65 ।।

अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भली-भाँति स्थिर हो जाती है। अर्थात् चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश होता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।66 ।।

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावना हीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है? जो पुरुष उक्त रीति से युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं हुआ है, उसमें स्थिर बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ़ बुद्धिरूप निष्ठा भी नहीं रहती। जिसे भावना नहीं, उसे शान्ति नहीं और जिसे शान्ति नहीं, उसे सुख मिलेगा ही कहाँ से?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावभिवाम्भसि ।।67 ।।

क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। विषयों में संचार अर्थात् व्यवहार करने वाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है जैसे कि पानी में नौका का वायु खींचती है।

हमने उपरोक्त श्लोकों के अर्थ और विस्तार या सरलीकरण कर समझने का प्रयास करेंगे। इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस मनुष्य की भोगों में सुख और रमणीय बुद्धि है जिसका मन वश में नहीं है और जो परमात्मा का चिन्तन नहीं करता, ऐसे मनुष्य का परमात्मा में प्रेम और उनका आश्रय न रहने के कारण उसके मन द्वारा इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन होता रहता है। इस प्रकार विषयों का चिन्तन करते-करते उन विषयों में उसकी अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। तब फिर उसके हाथ की बात नहीं रहती, उसका मन विचलित हो जाता है। जिन पुरुषों की परमात्मा की प्राप्ति हो गयी है उनके लिए तो विषय चिन्तन से आसक्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। ‘परं दृष्ट्वा निवर्तते’ से भगवान् ऐसे पुरुषों में आसक्ति का अत्यन्ताभाव बतला चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी के मनो में न्यूनाधिक रूप में आसक्ति उत्पन्न हो सकती है।

विषयों का चिन्तन करते-करते जब मनुष्य की उनमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, उस समय उसके मन में नाना प्रकार के भोग प्राप्त करने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो उठती है; यही आसक्ति से कामना का उत्पन्न होता है तथा उस कामना में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित होने पर जो उस विघ्न के कारण में द्वेष बुद्धि होकर क्रोध

उत्पन्न हो जाता है यहि कामना से क्रोध का उत्पन्न होना है। जिस समय मनुष्य के अन्तःकरण में क्रोध की वृत्ति जागृत होती है, उस समय उसके अन्तःकरण में विवेक शक्ति का अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोच सकता; क्रोध के वश होकर जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसके परिणाम का उसको कुछ भी ख्याल नहीं रहता। यहि क्रोध से उत्पन्न सम्मोह का अर्थात् अत्यन्त मूढ़भाव का स्वरूप है। जब क्रोध के कारण मनुष्य के अन्तःकरण में मूढ़भाव बढ़ जाता है तब उसकी स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति विभ्रम होने से अन्तःकरण में किसी कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय करने की शक्ति का न रहना ही बुद्धि का नष्ट हो जाना है। ऐसा होने से मनुष्य अपने कर्तव्य को त्यागकर अकर्तव्य में प्रवृत्त हो जाता है—उसके व्यवहार में कटुता, कठोरता, कायरता, हिंसा, प्रति-हिंसा, दीनता, जडता और मूढ़ता आदि दोष आ जाते हैं अतएव उसका पतन हो जाता है, वह शीघ्र ही अपनी पहले की स्थिति से नीचे गिर जाता है और मरने के बाद नाना प्रकार की नीच योनियों में या नरक में पड़ता है; यही बुद्धिनाश से उसका अपनी स्थिति से गिर जाना है।

पापों के कारण ही मनुष्यों को दुःख होता है, और कर्मयोग के साधन से पापों का नाश होकर अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है तथा शुद्ध अन्तःकरण में ही व्यक्ति में सात्त्विक प्रसन्नता होती है। इसलिए सात्त्विक प्रसन्नता से सारे दुःखों का अभाव हो जाता है। किसी भी वस्तु के संयोग-वियोग से किंचितमात्र भी दुःख नहीं होता, वह सदा आनन्द में मग्न रहता है। यही सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाना है। जिसे “सर्वदुःखनाम्” कि संज्ञा दी गई है।

आगे भगवान् कहते हैं— “जिसका मन और इन्द्रिय वश में किये हुए नहीं है, एवं जिसकी इन्द्रियों के भोगों में अत्यन्त आसक्ति है, ऐसा भाव होने पर चित्त में शान्ति का प्रादुर्भाव हुए बिना किसी भी उपाय से मनुष्य को सच्चा सुख नहीं मिल सकता। विषय और इन्द्रियों के संयोग में तथा निद्रा, आलस्य और प्रमाद में भ्रम से जो सुख की प्रतीति होती है, वह वास्तव में सुख नहीं है, वह तो दुःख का हेतु होने से वस्तुतः दुःख ही है।

(2.67) दृष्टान्त में नौका के स्थान में बुद्धि है, वायु के स्थान में जिसके साथ मन रहता है वह इन्द्रिय है, जलाशय के स्थान में संसार रूप समुद्र है और जल के स्थान में शब्दादि समस्त विषयों का समुदाय है। जल में अपने गन्तव्य स्थान की ओर जाती हुई नौका को प्रबल वायु दो प्रकार से विचलित करती है या तो उसे पथ भ्रष्ट करके जल की भीषण तरंगों से भटकती है या अगाध जल में डुबो देती है; किन्तु यदि कोई चतुर मल्लाह उस वायु की क्रिया को अपने अनुकूल बना लेता है तो फिर वह वायु उस नौका को पथभ्रष्ट नहीं कर सकती, बल्कि उसे गन्तव्य स्थान पर पहुँचाने में सहायता करती है। इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वश में नहीं है, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धि को परमात्मा के स्वरूप में निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मन को आकर्षित करके उसकी बुद्धि को दो प्रकार से विचलित करती हैं। इन्द्रियों का बुद्धि रूप नौका को परमात्मा से हटाकर नाना प्रकार के भोगों की प्राप्ति का उपाय सोचने में लगा देना, उसे भीषण तरंगों में भटकाना है और पापों में प्रवृत्त करके उसका अधः पतन करा देना, उसे डुबो देना है। परन्तु जिसके मन और इन्द्रिय वश में रहते हैं उसकी बुद्धि को वे विचलित नहीं करते वरं बुद्धिरूप नौका को परमात्मा के पास पहुँचाने में सहायता करते हैं।

भगवद्गीता में बन्धन की प्रक्रिया निम्नलिखित दो सिद्धान्तों पर आधारित हैं— 1. प्रकृति अपना कार्य अवश्य करेगी, उसका कोई अवदमन नहीं कर सकता। 2. मनुष्य में यथेष्ट शक्ति है कि वह एक ही समय में अपनी चेतना को अनेक भागों में बाँट सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने सेंस फ्रेंसिस्कों में दिये हुए भाषण में कहा कि योगियों का कहना है एक वासना दूसरे वासना को जगाती है और पहली मर जाती है। यदि तुम क्रोध होते हो, और तब बाद में प्रसन्न, तो अगले क्षण क्रोध चला जाता है। उस क्रोध से दूसरी दशा का निर्माण हुआ, इसलिये मन की दशाएँ सदैव परिवर्तनशील हैं। किन्तु इस प्रक्रिया में जिनके आधार पर ये दशाएँ परिवर्तित होती हैं, वे आधार अपरिवर्तनशील हैं। इस परिवर्तनशील के परिवर्तनशील होकर दिखने में एक नियमबद्धता है। उसी नियमबद्धता को भगवद्गीता ने स्पष्ट किया है।

3.5 सारांश

जीव का स्वरूप के विवेचन में आपने पढ़ा कि जीव का स्वरूप भौतिक अंश क्षरणशील है तथा चेतन अंश जन्म जन्मान्तर तक तब तक संचरणशील रहता है जब तक उसे पूर्ण मुक्ति न प्राप्त हो जाये। मुक्ति के पूर्व की अवस्था को बन्धनग्रस्त अवस्था कही जाती है। जीव बन्धन में पड़ता है— 'पूर्व कर्मों से कारण' इस सिद्धान्त को भारतीय-सभ्यता में विकसित सभी परम्परायें स्वीकार करती हैं।

गीता में निष्काम कर्म को महत्ता दी गई है। निष्काम कर्म ही बन्धन को काटता है जबकि सकाम कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं। गीता में कहा गया है कि पुरुष स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधन रूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं।

अब इस सकाम कर्म का मूल उद्गत स्थान मन है अतः गीता में मन के निग्रह की बात प्रमुखता से की गई है। अर्थात् मन का विग्रह न करने पर मनुष्य सकाम कर्मों में लीन हो जाता है तथा भवबन्धन को प्राप्त करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं—

- i. मन में उत्पन्न होने वाला काम ही मोह-रूपी बंधन का कारण है।
- ii. निष्काम कर्म से मुक्ति एवं सकाम कर्म से बंधन होता है।
- iii. निष्काम एवं सकाम कर्मों का उद्गम स्थल मन है।
- iv. मन का निग्रह न होना बंधन का कारण है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

एकात्म्यबुद्धि : जिसकी बुद्धि, आत्मा के साथ एकाकार कर लिया हो, उसे एकात्म्यबुद्धि कहा जाता है।

लोकसंग्रहार्थ-कर्म : भगवद्गीता में लोकसंग्रह शब्द (पब्लिक वेलफेयर) के लिये आया है। जो कार्य सामान्यजन के हित के लिये किया जाता है, उस कर्म को भगवद्गीता 'लोकसंग्रहार्थ-कर्म' की संज्ञा दी गयी है।

इन्द्रिय-निग्रह : भारतीय परम्परा में व्यक्ति का व्यक्तित्व, शरीर और आत्मा का मिलन स्थल है। शरीर जड़ है, और आत्मा चेतन। जड़ पदार्थों का ज्ञान शरीर को जिस माध्यम से होता है, उसे इन्द्रिय कहा जाता है। पाँच स्थूल इन्द्रियाँ हैं और मन

आन्तरिक इन्द्रिय है। इन्द्रियों का स्वरूप है कि ये अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। अर्थात् वर्हिंवती होती है। इनको जब वर्हिंवती के स्थान पर अर्न्तवर्ती होने का अभ्यास डाला जाता है, तो उसे इन्द्रिय-निग्रह कहा जाता है। इन्द्रिय-निग्रह के माध्यम से जीव उस आत्मतत्व तक पहुंचता है, जहां पर जड़ और चेतन दोनों एक हो जाते हैं।

3.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2008
3. गीतारहस्य, बालगंगाधर तिलक, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, 2017

3.8 बोधप्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया तथा उससे मुक्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
2. मन ही बन्धन का कारण है, इस कथन की विवेचना भगवद्गीता के आलोक में कीजिए।
3. बन्धन से सम्बन्धित भगवद्गीता में उल्लिखित महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ अपने शब्दों में लिखिए।
4. निष्काम कर्म से जीव को बन्धन नहीं प्राप्त होता, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

इकाई 4 बन्धन सिद्धान्त की विविध दार्शनिक व्याख्याएँ

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 सांख्य में बन्धन विचार
- 4.3 योगदर्शन में बन्धन विचार
- 4.4 न्यायवैशेषिक में बन्धन विचार
- 4.5 मीमांसा दर्शन में बन्धन विचार
- 4.6 जैनदर्शन में बन्धन विचार
- 4.7 बौद्धदर्शन में बन्धन विचार
- 4.8 वेदान्तदर्शन में बन्धन विचार
- 4.9 सारांश
- 4.10 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.11 सन्दर्भग्रन्थ
- 4.12 बोध प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- बन्धन की अवधारणा को विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के आलोक में पढ़ सकेंगे।
- बन्धन की अवधारणा से जुड़े प्रश्नों का उत्तर लिख सकेंगे।
- बन्धन के सिद्धान्त का विश्लेषण कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

देहधारी के लिये स्वभावजन्य कर्म, कर्म के अनुसार पुर्नजन्म, पुर्नजन्म के साथ बन्धन परम्परा की पुनरावृत्ति, तदुपरांत अनेक जन्मसंसिद्धि के बीच मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयास, ये प्रत्येक जीवधारी के लिये प्रवर्तित भाग्यचक्र है। हर प्राणी को इस जन्म-मृत्यु या आवागमन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, अतः प्रत्येक दर्शन एवं धार्मिक विचार के ये प्रमुख विषय स्वतः बन जाते हैं। यद्यपि कई धर्मों ने कर्मों को एक विराम-स्थल दिया है, जिसे हम कयामत या Dooms day कहते हैं, किन्तु भारतीय दर्शन के सभी शाखाओं में जन्म-कर्म से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक एक वृत्त के रूप में देखा है और जीवन, जीवन-सम्बन्ध और मोक्ष पर सविस्तार विवेचना प्रस्तुत किया है। जीवन की गतिशीलता मोक्ष पर समाप्त होती है।

4.2 सांख्य में बन्धन विचार

सांख्य दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों की भाँति देखते हैं कि जगत् में चारों ओर दुःख का साम्राज्य है। जरा (बुढ़ापा) मृत्यु, रोग, जन्म आदि जीवन को दुःखमय बना देते हैं।

सांख्य दर्शन दुःखों का विवेचन एवं वर्गीकरण करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार इस जगत् की समस्त वस्तुएँ तीनों गुणों के अधीन रहते हुए अस्तित्व में है। गुणों के कारण दुःखों की उत्पत्ति होती है इसीलिए जगत् दुःखमय है। संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—

1. आध्यात्मिक/मनोदैहिक/वैयक्तिक दुःख।
2. आधिभौतिक/वस्तुगत दुःख/वस्तुपरक/वस्तुनिष्ठ।
3. आधिदैविक/देवताओं से सम्बन्धित दुःख।

शारीरिक दुःख या मानसिक दुःख के जितने भी रूप हैं सब आध्यात्मिक दुःख के भीतर आते हैं। यह आत्मा संबंधी दुःख है। यह दो प्रकार का होता है। शारीरिक दुःख के अन्तर्गत वात, पित्त, कफ इत्यादि आते हैं तथा मानसिक दुःख के अन्तर्गत काम, क्रोध आदि मनोविकार आते हैं।

आधिभौतिक दुःख शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का कारण है। जैसे— सिर दर्द, बीमारी, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या इत्यादि से होने वाले दुःख आध्यात्मिक दुःख हैं।

आधिभौतिक दुःख वाह्य जगत् के प्राणियों की क्रियाओं से यह दुःख हमें मिलता है। जैसे— चोर हमारी सम्पत्ति का हरण कर लेते हैं और हमें दुःख प्राप्त होता है। सर्प दंश से हमें दुःख मिलता है।

इस प्रकार का दुःख मनुष्य के शरीर से उत्पन्न न होकर बाहरी पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होता है। शरीर से किसी पदार्थ के सम्पर्क पर कभी-कभी पीड़ा पहुँचती है।

आधिदैविक दुःख इस तरह के दुःख दैवी या अलौकिक सत्ता के प्रकोप से पैदा होते हैं। इसमें न तो शरीर कारण है और न संसार के बाहरी पदार्थ। इस तरह के दुःख के पीछे अदृष्ट सत्ता के हाथ रहते हैं। जैसे— भूत-प्रेत का प्रकोप, नक्षत्र का प्रकोप, प्रलयकारी विनाश इत्यादि सभी आधिदैविक दुःख कहलाते हैं।

प्राकृतिक घटनाओं से हमें यह दुःख प्राप्त होता है। जैसे भूकम्प, बाढ़, भूत-प्रेत इत्यादि के कारण से प्राप्त दुःख।

इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य सदैव सचेष्ट रहता है और सभी चाहते हैं कि आनन्द की प्राप्ति करें। जीवन का लक्ष्य ही आनन्द की उपलब्धि है और इसी आनन्द की खोज में हमारा संपूर्ण जीवन समर्पित है अज्ञान ही दुःख का कारण है। संसार की वस्तुओं के यथार्थ रूप को न जाने के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है जब उनके रूप को जान लेते हैं तब हमारे दुःख की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए भारतीय दर्शन में तत्त्व ज्ञान से मोक्ष (दुःख निवृत्ति) का उदय माना जाता है। दुःखों का पूर्ण विनाश मोक्ष से ही संभव है। मोक्ष का अर्थ त्रिविध दुःखों का अभाव है। मोक्ष ही परम अपवर्ग या पुरुषार्थ है।

सैद्धान्तिक रूप से सांख्य दर्शन में पुरुष को त्रिगुणातीय माना गया है। वह नित्य तथा अविनाशी है। ऐसे में प्रश्न उठता है कि मुक्त पुरुष बंधनग्रस्त कैसे हो जाता है? इस विषय में सांख्य दर्शन का स्पष्टीकरण यह है कि पुरुष वास्तव में बंधनग्रस्त नहीं होता बल्कि पुरुष को बंधन का भ्रम हो जाता है। पुरुष स्वभावतया ही मुक्त है। बंधन का प्रादुर्भाव पुरुष तथा प्रकृति के आकस्मिक संबंध के स्थापित होने से होता है।

वास्तव में पुरुष, बुद्धि, अहंकार तथा मन से भिन्न है परन्तु अज्ञानवश वह अपने आप

को बुद्धि तथा मन के साथ जुड़ा हुआ मान लेता है। इससे ही दुःखों का अनुभव होने लगता है। इस तथ्य को सांख्यदर्शन में एक उपमा द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। यदि किसी लाल रंग के पुष्प के सफेद स्फटिक के निकट लाया जाये तो वह स्फटिक भी लाल रंग का प्रतीक होने लगता है।

इस प्रकार बुद्धि के सन्सर्ग के कारण मुक्त पुरुष भी बंधन—ग्रस्त प्रतीत होने लगता है। पुरुष भ्रमवश अपना तादात्म्य शरीर, बुद्धि, अहंकार, मन तथा इन्द्रियों के साथ कर लेता है तथा इनके दुःखों को अपना दुःख मानने लगता है। सांख्य दर्शन में बन्धन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है— आत्मा का अपने को बुद्धि से अभिन्न समझना ही बंधन है। बुद्धि वास्तव में अनात्मा है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि पुरुष एवं प्रकृति में विद्यमान भेद या अंतर का ज्ञान न होना ही बंधन है। बंधन का कारण अज्ञान अर्थात् अविवेक है।

सांख्य दर्शन में स्पष्ट किया गया है कि वास्तव में बंधन तथा मोक्ष दोनों ही व्यावहारिक है। बंधन तथा मोक्ष दोनों प्रतीति मात्र है। पुरुष तो स्वभावतः ही मुक्त है। बंधन केवल प्रतीति मात्र है। विज्ञान—भिक्षु ने स्पष्ट किया है कि यदि बंधन वास्तव में होता तो सौ जन्मों में बंधन से मुक्ति संभव नहीं थी। बंधन तथा मोक्ष तो प्रकृति की अनुभूतियाँ हैं। प्रकृति ही बंधन ग्रस्त होती है। तथा प्रकृति ही मोक्ष प्राप्त करती है।

सांख्यकारिका में ईश्वर कृष्ण ने स्पष्ट किया है पुरुष न बंधन में पड़ता है, न मुक्त होता है और न उसका पुनर्जन्म ही होता है। बंधन, मोक्ष और पुनर्जन्म भिन्न—भिन्न रूपों में प्रकृति का होता है। प्रकृति स्वतः अपने को सात रूपों में बाँधती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष न तो बंधन ग्रस्त होता है और न ही उसे मोक्ष प्राप्त होता है। बंधन तथा मोक्ष उसके भ्रम के प्रतीक है।

सांख्यदर्शन में पुरुष न तो प्रकृति और न उसके विकारों से बंधता है और न ही मुक्त होता है पुरुष का बंधन एक मिथ्या विचार है।

पुरुष स्वभावतः नित्य, शुद्ध मुक्त, ज्ञान स्वरूप एवं बंधन रहित है। इसीलिए इसका न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। प्रकृति ही लिंग शरीर के रूप में अनेक पुरुषों के साथ से बंधन ग्रस्त होता है, संसरण करती है और मुक्त होती है।

सांख्यदर्शन में पुरुष निर्गुण और निर्विकार है। वह कर्ता न होकर प्रकृति के क्रियाकलापों का केवल साक्षी है इसलिए मोक्षावस्था में प्रकृति से पुरुष के अलग होने या न होने का कोई प्रश्न नहीं है। बंधन और मोक्ष पुरुष के स्वरूप गुण नहीं हैं अपितु उस पर आरोपित हैं। प्रकृति ही स्वयं अपने को बाँधती है और मुक्त करती है।

सांख्यदर्शन की बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा शांकर वेदान्त की बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा से पूर्णतः भिन्न है। इस भिन्नता का कारण इन दोनों की तत्त्व—मीमांसा है। सांख्य द्वैतवाद है। जबकि शांकर वेदान्त अद्वैतवाद है। सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के तादात्म्य के तादात्म्य का बोध बन्धन है। जबकि शांकर वेदान्त में जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का ज्ञान मोक्ष है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के द्वैत का बोध मोक्ष की अवस्था है जबकि शांकर वेदान्त जीव और ब्रह्म का पार्थक्य बोध बन्धन है।

सूक्ष्म शरीर वह होता है जिसमें ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि सब गुण होते हैं उसे ही सूक्ष्म शरीर कहते हैं। ये आत्मा को सृष्टि के आरंभ में प्राप्त होता है और

सृष्टि के अंत तक रहता है। अगर इस बीच में आत्मा उस सूक्ष्म शरीर से अलग हो जाए तो उसे मोक्ष कहते हैं।

सूक्ष्म शरीर के साथ ही पुरुष का संयोग बन्धन है और इस बन्धन का कारा अविवेक है। पुरुष स्वभावतः ज्ञाता मात्र है जो बुद्धि, अहंकार, मन, शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न है किन्तु वह अविवेक (भेद ज्ञान का अभाव) के कारण अनात्म वस्तुओं में अपना तादात्म्य स्थापित करके अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है तथा अनात्म वस्तुओं (प्रकृति के विकारों) और उसके गुणों से अपना तादात्म्य स्थापित करके उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप समझ बैठता है। बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से जड़, बुद्धि, चैतन्य युक्त हो जाती है और अहंकार के आरोप के कारण वह उसके गुणों को अपना स्वरूप समझकर स्वयं को कर्ता स्वामी विषयों के संपर्क में लाकर सुख दुःखादि का अनुभव करता है।

इस प्रकार अविवेक के कारण पुरुष का शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और उसके विषयों के साथ मिथ्या सम्बन्ध ही बन्धन और दुःखानुभूति का कारण है। यद्यपि पुरुष का न बंधन है न मुक्ति ही है, न सृष्टि ही है। बंधन, मोक्षादि सब प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति (बुद्धि) स्वयं अपने को सात रूपों द्वारा बाँधती है। ये रूप हैं— धर्म—अधर्म, वैराग्य—अवैराग्य, ऐश्वर्य—अनैश्वर्य तथा अज्ञान। वही प्रकृति अपने एक रूप 'ज्ञान' या सत्त्व पुरुष अन्यथाख्याति रूप तत्त्व ज्ञान द्वारा अपने को मुक्त करती है। इसलिए तत्त्व ज्ञान का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए। 'अभ्यास' से 'मैं' 'मेरे' की प्रतीति नहीं रहती है।

सांख्य की बन्धन की अवधारणा में भी बन्धन का मूल कारण अज्ञान या अविद्या ही है। सांख्य दर्शन के कथानुसार—विपर्यय अर्थात् तत्त्व के अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है।

“विपर्ययात् अतत्त्वज्ञानात् इष्यते बन्धः।”

सांख्य कारिका में अज्ञान को बन्धन का कारण बताते हुए कहा गया है कि धर्म से उर्ध्वलोक की ओर गमन होता है, अधर्म से अधोलोक की ओर गमन होता है, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है तथा विपर्यय अर्थात् अज्ञान से बन्ध होता है।

“धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।”

सांख्य मतानुसार किसी पुरुष का न तो बन्धन और संसरण ही होता है और न मोक्ष ही। प्रकृति का ही संसरण, बन्धन एवं मोक्ष होता है। पुरुष में ये केवल आरोपित होते हैं— जैसे विजय और पराजय नौकर की होने पर भी स्वामी की ही विजय और पराजय कही जाती है। इस सम्बन्ध में सांख्य कारिका का तर्क है कि प्रकृति के निर्गुण तथा अपरिणामी होने से वस्तुतः कोई भी पुरुष संसरण नहीं करता है, 'बंधता' नहीं है और मुक्त भी नहीं होता है। प्रकृति ही विभिन्न योनि के चैतन्याधिष्ठित शरीरों का आश्रय प्राप्त करती हुई 'संसरण', 'बंधन' और 'मोक्ष' को प्राप्त करती है।

‘तस्मान्न बन्ध्यतेऽद्वा न मुच्यते नापि संसरति कञ्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते न नानाश्रया प्रकृतिः।।”

इसी कथन को और स्पष्ट करते हुए सांख्य कारिका में अन्यत्र कहा गया है कि प्रकृति भोगरूप पुरुषार्थ के लिए अपने ही धर्मादि सात रूपों (धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य) के द्वारा स्वयं को बाँधती है और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ

के लिए अपने ही ज्ञान रूप एक भाव के द्वारा स्वयं को मुक्त करती है।

**“रूपैः सप्तभिरेव तु बध्यात्यात्मानमात्मना प्रकृति।
सैव च पुरुषार्थ प्रति विमोचयत्येक रूपेण।।”**

सांख्यकारिका में स्पष्टतः बन्धन के त्रिविध भेदों का उल्लेख नहीं है परन्तु इसके सभी टीकाकारों ने प्राकृतिक, वैकृतिक एवं दक्षिण भेद से बन्ध को तीन प्रकार का माना है।

आचार्य माठर एवं जयमंगलाकार के अनुसार प्राकृतिक बन्ध उनको प्राप्त होता है। जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हुए उसी की उपासना करते हैं। प्रकृति की भावना करने वाले पूरे सौ सहस्र मन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं। ब्रह्मा आदि स्थानों में श्रेयो बुद्धि का उत्पन्न होना ही वैकारिक बन्ध कहलाता है। ऐसा आचार्य माठर का मत है।

“वैकारिक बन्धो नाम ब्रह्मादिस्थानेषु श्रेयो बुद्धिः।”

जय मंगलाकार के अनुसार जिनके मत में ऐश्वर्य लक्षण वाला पुरुषार्थ ही विकार है उन विकारवादियों के लिए वहीं पुरुषार्थ वैकारिक बन्धन कहलाता है।

**“येषां विकार एवैश्वर्य लक्षणः पुरुषार्थ इति, तेषां
विकारत्ववादिनां वैकारिको बन्धः।”**

वाचस्पति मिश्र के अनुसार, वैकृतिक बन्ध उन्हें प्राप्त होता है जो भूतों (पृथिवी आदि), इन्द्रियों, अहंकार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति की विकृतियों का पुरुष भाव से उपासना करते हैं। इन्द्रियों के उपासक दश मन्वन्तरों तक, भूतों के उपासक सौ मन्वन्तरों तक, अहंकार के उपासक सहस्र मन्वन्तरों तक तथा बुद्धि के उपासक दस सहस्र मन्वन्तरों तक दुःख त्रय से रहित होकर उन-उन में स्थित रहते हैं, वे ही विदेह भी कहलाते हैं।”

भावागणेश के अनुसार काम के द्वारा उपहत चित्त वाले गृहस्थ आदि व्यक्तियों द्वारा दक्षिणा देना ही दाक्षिणक बन्धन है।

“गृहस्थादीनां कामोपहतचेतसां दक्षिणां ददतां दक्षिणाबन्धः।”

वाचस्पति मिश्र के अनुसार दाक्षिणक बन्धन उन्हें प्राप्त होता है जो पुरुष को नहीं जानते और स्वर्गादि की कामना से अग्निहोत्र, वापी, कूप आदि का निर्माण तथा यज्ञ में गायों एवं सुवर्ण आदि का दान करते हैं। स्वर्ग में जाने पर ऐसे लोग स्वर्गीय शरीरादि रूप बन्धन को प्राप्त करते हैं।”

बंधन और मोक्ष : हमारे जीवन में दो मार्ग हैं— 1. बंधन का मार्ग, 2. मोक्ष का मार्ग। अधिकांश लोग यह समझते हैं कि मृत्यु के बाद जब शरीर रूपी बंधन से मुक्ति मिलती है तब मोक्ष मिलता है।

महाभारत में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कर्म करते हुए और उन कर्मों को मन में परमसत्ता को अर्पण करते हुए यदि कोई पुरुषार्थ करता है, तो वह इसी जीवन में मोक्ष पा लेता है। वस्तुतः कर्म करते हुए व्यक्ति को अनेक बंधनों को काटना पड़ता है। जिनमें अहंकार, लोभ, मोह प्रमुख हैं। चूँकि बंधन हमेशा दुष्प्रवृत्तियों के ही होते हैं। इसलिए इनसे छुटकारा पा लेना ही मोक्ष है।

हमें मानव जीवन मिला ही इसलिए है कि हर व्यक्ति इस परम पुरुषार्थ के लिए कर्म करे और परमतत्व की प्राप्ति के लिए इस प्रयोग को सार्थक बनाए। बंधन और मोक्ष में

अन्तर सिर्फ इतना है कि जब आसुरी संपदा हमारे पास बढ़ेगी तो हम बंधन की ओर बढ़ेंगे लेकिन जब दैवीय संपदा हमारे पास बढ़ेगी तो हम मोक्ष की तरफ बढ़ जाएंगे।

बंधन का मकड़जाल हमें जकड़े रहता है लेकिन इससे छुटकारा पाना हर व्यक्ति के लिए जरूरी है क्योंकि हर व्यक्ति के लिए मोक्ष जरूरी है। व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसमें क्रोध, मोह नहीं होना चाहिए बल्कि उसका निर्णय समाज हित में होना चाहिए।

महाभारत का युद्ध हुआ लेकिन इसके लिए श्रीकृष्ण ने पांडवों के मन में द्वेष नहीं बल्कि अखण्ड भारत के कल्याण की भावना जगाई और एक संस्कारी राजा का आदर्श रखते हुए ईश्वर के लिए कर्म करने की भावना जगाकर युद्ध करने को कहा।

शास्त्रों और पुराणों में कहा गया है कि आत्मा तब तक एक शरीर में दूसरे शरीर में भटकती रहती है जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म को जीवन जीने की कला कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मोक्ष प्राप्ति के लिए हमें अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए सुनने व मनन की क्षमता को बढ़ाना चाहिए और निरंतर अध्ययन करते रहना चाहिए। स्पष्ट है मोक्ष जीते जी भी पाया जा सकता है।

4.3 योगदर्शन में बन्धन विचार

योग दर्शन में बन्धन की अवधारणा को बहुत गहराई से अभिव्यक्त किया गया है। पातञ्जलयोगदर्शन की योगवार्तिक टीका में कहा गया है कि अपामार्ग (चिचिड़ा) की लता की तरह विरुद्ध फल देने वाला यह संसार अन्तर्दृष्टि वालों के मोक्ष और बहिर्दृष्टि वालों के बन्ध का कारण होता है।

“प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निबन्धाय पराग्दृशाम्।

अपामार्गलतेवायं विरुद्ध फलदो भवः॥”

योग दर्शन के अनुसार पुरुष जब बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब से तादात्म्य कर लेता है तो वह बद्ध जीव के रूप में प्रतीत होता है जो जन्म-मरण चक्र में संसरण करता है तथा नाना प्रकार के क्लेश भोगता है। क्लेशमूलक कर्मसंस्कारों का समुदाय वर्तमान और भविष्य में होने वाले दोनों प्रकार के ही जन्मों में भोगा जाने वाला है। मूल के विद्यमान रहने तक उसका परिणाम पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है। वे हर्ष और शोकरूप फल को देने वाले होते हैं क्योंकि उनके पुण्य कर्म और पापकर्म-दोनों ही कारण हैं।

“क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥

ते ह्लादपरिताप फलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात्॥”

इसके अनन्तर कहा गया है कि परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख सब में विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के लिए सब के सब दुःखरूप ही हैं।

“परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाश्च

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥”

प्रश्न उठता है कि क्लेश क्या हैं? इसके समाधान में कहा गया है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश— ये पाँचों क्लेश हैं। जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार— इन चार अवस्थाओं में रहने वाले हैं एवं जिनका वर्णन अविद्या के बाद किया गया है, उनका कारण अविद्या है।

“अविद्या स्मिताराग द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदारणम् ।।”

अतः सभी क्लेशों की मूल अविद्या है। जो बन्धन एवं संस्करण का कारण है। किन्तु अविद्या क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव की अनुभूति ‘अविद्या’ है।

“अनित्याशुचिदुःखानात्सु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिरविद्या ।”

योगवासिष्ठ में भी अविद्या को ही संसरण एवं बन्धन का कारण बताते हुए निम्नवत् उद्गार अभिव्यक्त है—

“अविद्या संसृतिर्बन्धो मायामोहो महत्तमः ।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकल वेदिभिः ।।”

योगवासिष्ठ ने ही अन्यत्र उल्लेख आया है कि बन्धन और मोक्ष और कुछ नहीं वरन् प्रबोध अर्थात् ज्ञान का न होना बन्धन है और प्रबोधमय स्थिति मोक्ष है।

“न बन्धोस्ति न मोक्षोस्ति ना बन्धोस्ति न बन्धनम् ।
अप्रबोधादिदं दुःखं प्रबोधात्प्रविलीयते ।।”

महाभारत में उल्लेख आया है कि कर्म से प्राणी बाँधा जाता है और विद्या से उसका छुटकारा हो जाता है।

“कर्मणा बध्यते जन्तु विद्यया तु प्रमुच्यते ।”

4.4 न्यायवैशेषिक में बन्धन विचार

न्याय दर्शन आत्मा के विषय में एक वस्तुवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। आत्मा वह द्रव्य है जिसमें ज्ञान, सुख—दुःख, राग—द्वेष, इच्छ, कृति या प्रयत्न आदि उनके रूप में पाये जाते हैं। ये गुण बाह्य जगत् के गुण नहीं कहे जाते हैं। बाह्य जड़ द्रव्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय नहीं है। अतः ये गुण उस द्रव्य के हैं जो जड़ द्रव्यों से भिन्न हैं।

इस प्रकार न्याय दर्शन यह भी मानता है कि विभिन्न शरीरों में विभिन्न आत्माएँ हैं। यह अनेक आत्मा को स्वीकार करता है, क्योंकि इनकी यह मान्यता है कि हम स्पष्ट रूप से जानते हैं कि कुछ आत्माएँ बन्धन में हैं, कुछ मुक्त हैं।

इनका यह तर्क है कि यदि संसार में एक ही आत्मा होती तो एक आत्मा के मुक्त होने के साथ ही सभी आत्मा मुक्त हो जाती। किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। विभिन्न शरीरों में आत्मा के विभिन्न स्वभाव भी परिलक्षित होते हैं। जैसे— कोई सुखी है तो कोई दुःखी। अतः न्याय आत्मा की अनेकता को मानते हुए यह अवश्य मानता है कि यह एक, नित्य, विभु और असीम सत्ता है।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि न्याय दर्शन शरीर या इन्द्रिय को ही आत्मा मानता है। शरीर को आत्मा नहीं कह सकते क्योंकि इसमें चेतना नहीं आ सकती।

बाह्य इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं है क्योंकि इनमें कल्पना, स्मृति, विचार आदि मानसिक व्यापार नहीं पाया जाता है। मन भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह अणु होने के कारण अप्रत्यक्ष है।

न्याय दर्शन, बौद्ध दर्शन की भाँति आत्मा को चेतना का प्रवाह भी नहीं कहता। यह वेदान्त दर्शन के स्वयं प्रकाश के चैतन्य आत्मा को भी नहीं मानता है। यह आत्मा को द्रव्य और चैतन्य को उसका गुण कहता है। किन्तु आत्मा में चेतना तभी आती है जब इसका सम्पर्क मन के साथ और मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ होता है। इसलिए न्याय दर्शन इस बात पर बल देता है कि चेतन आत्मा ही परम उपयोगी है।

न्याय दर्शन बद्ध आत्मा का कारण दुःख को मानता है। इसके अनुसार 21 प्रकार के दुःख हैं। एक शरीर छः इन्द्रियाँ, छः विषय और छः प्रकार के ज्ञान तथा सुख एवं दुःख।

इस प्रकार आत्मा का शरीर के साथ सम्पर्क ही दुःख है। शरीर ही आत्मा को दुःखित एवं सीमित बनाकर रखती है। न्याय दर्शन दुःखों की पूर्ण निरोध की अवस्था को अपवर्ग की संज्ञा देते हैं। इस दर्शन में यही मोक्ष की अवधारणा है। अपवर्ग का अर्थ है आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त होना।

न्याय-वैशेषिकों के अनुसार हमारे बन्धन का कारण अविद्या और कर्म है। जिसके परिणामस्वरूप नश्वर (अनात्म) पदार्थों को आत्म पदार्थ के रूप में देखता है। लौकिक संसार में अपनी विविध समस्याओं से उलझते हुए मनुष्य के लिए मोक्ष शब्द एक सुन्दर बहकावा है। किन्तु वास्तव में वह तो केवल एक यूटोपिया है।

न्याय-वैशेषिक तो मोक्ष को एक पवित्र संकल्प मानते हैं और इसका प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्कार भी संभव मानते हैं। परन्तु यह तभी संभव है जब मनुष्य अपने तीनों ऋणों से अर्थात् (ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देव ऋण) के ऋणानुबन्ध से मुक्त हो जाता है। क्लेषानुबन्ध— ये अप्रत्याशित दोष भी मोक्ष के मार्ग में दुष्कर काँटे हैं। इसी दोषों से मनुष्य की शुभ या अशुभ कार्य में प्रवृत्ति होती है और इसी क्रम में जीव राग-द्वेष आदि प्रवृत्तियों में आबद्ध हो जाता है। प्रवृत्त्यानुबन्ध— धर्म-अधर्म की प्रवृत्ति ही जन्म-मरण का कारण बनती है। मनुष्य उसके विरोधी गुणों पर निरन्तर ध्यान रखते हुए सांसारिक गुणों का त्याग कर दे तो मोक्ष प्राप्ति संभव है।

आपत्तियों के कारण जो मनुष्य बन्धन में पड़ता है वह अपने दोषों को रोककर, प्रवृत्तियों के चक्र को रोककर मोक्ष प्राप्ति को पूरा करता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा पर विचार करते समय अनेक प्रश्न सामने आते हैं। जैसे— क्या केवल कुछ ही व्यक्ति मोक्ष के अधिकारी हैं? वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति को किसी वर्ग-विशेष तक सीमित नहीं किय जा सकता। मनुष्यों की भाँति पशु को मोक्ष का पात्र माना जाना चाहिए जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में स्वीकार किया गया है कि—

‘स्त्रियों वैश्यास्तया मुमद्रास्तेपियात्ति परां गतिम्’

भगवद्गीता का 9/32 श्लोक। अर्थात् स्त्री, वैश्या, शुद्र आदि परम् पुरुषार्थ के भागी हैं। हमारे शास्त्रों में गजेन्द्र, मोक्ष, जटायु, मोक्ष जैसे उदाहरण सभी मिलते हैं। अतः स्पष्ट है कि शास्त्र में मोक्ष का अधिकार सीमित नहीं किया गया है।

न्याय-वैशेषिक मानव बन्धन की संतोषजनक व्याख्या करने में असमर्थ है। आत्मा बन्धन में कैसे पड़ी इसका कोई युक्ति संगत उपाय वे प्रस्तुत नहीं करते हैं। इसीलिए नैयायिक मुक्ति का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के लिए विवादास्पद है।

मुक्तावस्था में समस्त अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में नित्य आनन्द मोक्ष को मानने वाले वेदान्ती श्री हर्ष ने नैषम् चरित में नैयायिकों के विचार को हास्यास्पद बताया है। उनका कथन है कि जिस सूत्रकार ने जागरूक पुरुषों के लिए अज्ञान, सुख आदि से मुक्त शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतलाकर उपदेश दिया है उसका गौतम अभिधान शब्दतः यथार्थ नहीं, अपितु अर्थतः भी है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गौतम (अतिशयेनगौः गौतम) पक्का बैल है।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा अचेतन है। आत्मा में चेतना का संचार एक विशेष परिस्थिति में होता है। चेतना का उदय आत्मा में तभी होता है जब आत्मा का सम्पर्क मन के साथ तथा मन का इन्द्रियों के साथ होता है। यदि आत्मा का ऐसा सम्पर्क नहीं हो तो आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। न्याय का आत्म विचार सांख्य के आत्म विचार का विरोधी है। दोनों दर्शनों में चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण न होकर स्वाभाविक गुण है। न्याय ने आत्मा को विभु एवं काल तथा दिक् के द्वारा सीमित नहीं किया है। इसका अनुभव केवल शरीर में होता है न्याय ने आत्मा को अनेक माना है जबकि शंकर इसका निषेध करते हैं और आत्मा को एक मानते हैं। इस विचार में न्याय के विचार जैन और सांख्य से मिलते हैं।

नैयायिकों के मतानुसार मोक्ष की अवस्था में दुःखों का अन्त होने के साथ-साथ सुखों का भी अन्त हो जाता है। इसके अलावा ज्ञानेन्द्रियों का नाश हो जाता है। आत्मा की वासनाओं एवं प्रवृत्तियों पर विजय होती है, यही अपवर्ग है।

4.5 मीमांसादर्शन में बन्धन विचार

मीमांसा के अनुसार दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष की परम सीमा है। न्याय सूत्र 1/1/2 भाष्य करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि जब तत्व ज्ञान द्वारा मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है तो उसके सभी दोष दूर हो जाते। परिणामस्वरूप जीवन-मरण के चक्र के रूक जाने से दुःखों की आत्यन्तिक (शाश्वत) निवृत्ति हो जाती है। इसी स्थिति को 'मोक्ष' 'अपवर्ग' और 'निश्रेय' कहते हैं।

मीमांसा दर्शन आत्मा के बन्धन के विषय में न्याय वैशेषिक दर्शनों के विचारों के समान है। मीमांसा के अनुसार आत्मा नित्य और विभु होते हुए भी अपने को अनेक उपाधियों से युक्त करके बन्धन ग्रस्त कर लेता है। इसमें आत्मा के बन्धन के तीन प्रकार माने जाते हैं—

1. भौतिक शरीर
2. ज्ञानेन्द्रियाँ
3. बाह्य विषय।

ज्ञानेन्द्रियाँ, आत्मा को बाह्य विषयों से जोड़ती है। ज्ञानेन्द्रियों का आश्रय शरीर है जो आत्मा को सुख-दुःख आदि की अनुभूति कराता है। जगत् यह निर्धारित करता है कि आत्मा को किन-किन विषयों का अनुभव होगा। इस प्रकार आत्मा का शरीर, ज्ञानेन्द्रियों एवं बाह्य विषयों से सम्बन्धित होना ही उसका बन्धन है।

मीमांसकों के अनुसार आत्मा कर्मों के कारण शरीरादि उपाधियों से संयुक्त होकर बन्धनग्रस्त होता है। वह सकाम एवं प्रतिषिद्ध कर्मों के सम्पादन के फलस्वरूप धर्म (पुण्य) एवं अधर्म (पाप) के कारण बन्धन ग्रस्त होता है। इन कर्मों के सम्पादन का कारण मिथ्यादृष्टि (अज्ञान) है। अतः अज्ञान ही बन्धन का कारण है।

मीमांसकों ने मोक्ष की अवधारणा के सम्बन्ध में अपना स्वतंत्र मत प्रकट किया है। वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप प्रपंच विलय बताते हैं लेकिन मीमांसक उनके लक्ष्य में संशोधन करते हुए कहते हैं कि मोक्ष का स्वरूप प्रपंच सम्बन्ध विलय है इस चराचर जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश होना ही मोक्ष है।

प्रपंच के तीन प्रकार के बन्धन होते हैं, जिनसे आत्मा बद्ध होता है। आत्मा शरीर स्थित होकर इन्द्रियों के बाह्य विषयों का अनुभव करता है। अर्थात् शरीर तो भोगायतन है, इन्द्रियाँ तो भोग साधन हैं और पदार्थ भोग विषय हैं। इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक नाश को ही मोक्ष कह सकते हैं। अर्थात् उक्त तीन प्रकार के बन्धनों के साथ उनके उत्पादक धर्माधर्म का भी नाश होता है। पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय विषयों का नाश हो जाता है। तदुत्पादक धर्माधर्मादि कारणों के न रहने से नवीन शरीर इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति नहीं होती। धर्माधर्म का उच्छेद उत्पन्न हुए धर्मों के फलोपभोग से और नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से होता है। आत्मज्ञान से दोनों का उच्छेद होता है।

इस प्रकार शरीरादि के आरम्भक हेतुओं के न रहने पर और पूर्व शरीर के नष्ट होने पर यह आत्मा और शरीर अर्थात् शरीर रहित अवस्था में रहता है। तभी उसे मुक्त कहते हैं।

प्रभाकर के अनुसार जीवात्मा को शरीरादि की प्राप्ति उसके धर्म और अधर्म के फलरूप में होती है। यह प्राप्ति जीव का बन्धन है। जीव को शरीरादि बन्धनों में मुक्ति तभी मिल सकती है जब उसके धर्म और अधर्म का आत्यन्तिक विनाश हो जाय। प्रभाकर मीमांसा में धर्म और अधर्म के निःश्रेयस विनाश के कारण देह का जो आत्यन्तिक नाश होता है उसे मोक्ष कहते हैं।

जीव की मुक्ति की प्राप्ति के सम्बन्ध में मीमांसकों का विश्वास है कि मनुष्य के कर्म ही उसे शरीरादि की प्राप्ति कराकर भव-पाश में बाँधते हैं। अतएव जीव के मोक्ष की प्रक्रिया उसके कर्मों के विचार की प्रक्रिया है। प्रभाकर के अनुसार बन्धन के साधन रूप निषिद्ध एवं सकाम कर्मों के परित्याग से, जीव के समस्त क्रियमाण कर्मों का विनाश होता है तथा पूर्व जन्म में किये हुए धर्म और अधर्म के फल का उपभोग करके उनकी शक्ति का विनाश करता हुआ जीव कर्म प्रभाव से मुक्त होता है तथा पूर्व जन्म में किये हुए धर्म और अधर्म के फल का उपभोग करके उनकी शक्ति का विनाश करता हुआ जीव कर्म प्रभाव से मुक्त होता है। लेकिन केवल इतने से ही धर्माधर्म रूप कर्मों का आत्यन्तिक विनाश संभव नहीं है क्योंकि कर्मों के संस्कार जीव से संलग्न रहते हैं। इन संस्कारों के विनाश के लिए प्रभाकर योग शास्त्र में प्रतिपादित शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि योगांगों के पालन द्वारा आत्मज्ञान का निर्देश करते हैं।

इस प्रकार सकाम एवं निषिद्ध कर्मों के परित्याग से, पूर्वजन्मार्जित कर्मफल के उपभोग से तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति द्वारा मनुष्य भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है।

मोक्ष :

मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य से शून्य हो जाती है। जब धर्म और अधर्म का क्षय हो जाता है तो आत्मा का सम्पर्क शरीर से हमेशा के लिए छूट जाता है। मोक्ष दुःख के अभाव की अवस्था है। मोक्षावस्था में सांसारिक दुःखों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। मोक्ष को मीमांसकों ने आनन्द की अवस्था नहीं माना है। कुमारिल का विचार है कि यदि मोक्ष को आनन्द रूप माना जाय तो वह स्वर्ग के तुल्य होगा तथा नश्वर होगा। मोक्ष नित्य है क्योंकि वह अभाव रूप है।

अतः मोक्ष को आनन्ददायक अवस्था कहना भ्रामक है। मीमांसा का मोक्ष विचार न्याय-वैशेषिक के मोक्ष विचार से मिलता जुलता है। नैयायिकों ने मोक्ष को आनन्द की अवस्था नहीं माना है बल्कि मोक्ष को आत्मा के ज्ञान, सुख एवं दुःख से शून्य अवस्था कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीमांसा से दुःखादि से मुक्त जीव के स्वाभाविक स्वरूप को ही मोक्ष माना गया। मीमांसा दर्शन में आत्मा का वास्तविक स्वरूप एक प्रकार से जुड़ है। इसके अनुसार आत्मा में चैतन्य गुण रूप में विद्यमान रहता है। आत्मा में चेतना तभी होती है, जब वह शरीर, इन्द्रिय और मन में संयुक्त होती है। परन्तु आत्मा का ऐसा सम्बन्ध ही बन्धन है। मोक्षावस्था में आत्मा के इन संबंधी कारकों का अभाव हो जाता है और जीव या आत्मा अपनी सहज जड़ता में अवस्थित हो जाती है। इस अवस्था में सुख एवं दुःख दोनों का आत्यन्तिक विनाश माना गया है। इस प्रकार मोक्ष एक अभावात्मक या निषेधात्मक अवस्था है।

मीमांसक जीवनमुक्ति में विश्वास नहीं करते हैं। उनका यह दृष्टिकोण रामानुज के विचारों से समानता रखता है। रामानुज जीवन्मुक्ति को इसलिए अस्वीकार करते हैं कि शरीर मात्र बन्धन का कारण है। रामानुज के अनुसार जीवन्मुक्ति की अवधारणा में आत्म विधि है क्योंकि जब ज्ञान के पश्चात् जीव को शरीर के मिथ्यात्व का ज्ञान हो गया तब यह नहीं कहा जा सकता है कि उसमें शरीर में होते हुए मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार मीमांसक भी मानते हैं कि धर्म-अधर्म का विलोप हो जाने पर शरीर की समाप्ति ही मोक्ष है। अतः जीवन्मुक्ति की अवधारणा उचित नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीवात्मा में इस जगत के विषयों का भोक्ता होने के कारा प्रकृति के अधीन हो इसके मोहजाल में फँसा होना बताते हुए निम्नवत् उल्लेख है।

“संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।

अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।”

गीता प्रकृति को ही मनुष्य के कर्मबन्धन का कारण मानती है। इसके अनुसार कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये रहता क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

“न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।”

विष्णु पुराण में ज्ञान को ही बन्धन का कारण मानते हुए जैसा उल्लेख आया है कि ज्ञान ही परब्रह्म है और (अविद्या की उपाधि से) वही बन्धन का कारण है। क्योंकि यह

सम्पूर्ण विश्व ज्ञानमय है। विद्या और अविद्या दोनों ज्ञान ही है।

“ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम्॥
विद्याविद्येति मैत्रेय ज्ञानमेवोपधारय।।”

जैन दर्शन में बन्धन की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में बताया गया है कि मित्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग— ये पाँच बन्धन के हेतु हैं।

“मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतवः।।”

तत्त्वार्थ सूत्र में यह भी उल्लेख है कि कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है।

“सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।।”

उपर्युक्त की व्याख्या करते हुए सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है कि जब मिथ्यादर्शन, अविरति (आसक्ति), प्रमाद (असावधानी) और कषाय (पाप) के कारण तथा योग के भी कारण आत्म उन पुद्गलों का आदान अर्थात् आलिंगन करती है, जो पुद्गल (शरीर, द्रव्य) अपने सूक्ष्म क्षेत्र (रूप) में प्रवेश करती हैं, अनन्त (सभी) स्थानों में निवास करते हैं तथा अपने पूर्वकृत) कर्मों के बन्धन में पकने लायक होते हैं— इसी क्रिया का नाम बन्ध है। यथा—

“मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषायवशाद्योगवशच्चात्मा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्त प्रदेशानां पुद्गलानां कर्मबन्ध योग्यतामादानमुपश्लेषणं यत्करोति स बन्धः।।”

बन्धन की सविस्तार व्याख्या एवं विश्लेषण करते हुए श्री देवेन्द्र मुनि अपनी पुस्तक ‘जैन दर्शन—स्वरूप और विश्लेषण’ में निम्नवत् उल्लेख करते हैं—

“दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। बन्ध के दो प्रकार हैं— द्रव्य बन्ध और भावबन्ध। कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध है। जिन राग—द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है वे भाव भावबन्ध हैं। बन्ध चार प्रकार का है— प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध या अनुभाव बन्ध और प्रदेश बन्ध। प्रकृति कर्म का स्वभाव है, स्थिति कर्म की आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा है, अनुभाग कर्म का शुभाशुभ रस और प्रदेश कर्म के दलिकों का समूह। प्रकृति और प्रदेश बन्ध का कारण योग है, स्थिति और रस का कारण कषाय है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के कारण कर्म पुद्गल में स्थिति और फल देने की शक्ति पड़ती है। यह स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषाय से होते हैं। बन्ध तत्त्व शुभ और अशुभ— दो प्रकार का होता है। शुभ बन्ध पुण्य और अशुभ बन्ध पाप है। कर्मों के फल देने से पूर्व स्थिति का नाम बन्ध है। कर्मों का अनुदय काल बन्ध है। उदय काल पुण्य—पाप है।”

4.6 जैनदर्शन में बन्धन विचार

जैन दर्शन के बन्ध तत्त्व की व्याख्या के क्रम में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन दर्शन में आठ प्रमुख प्रकार के कर्म बताए गए हैं, जो निम्नवत् हैं— ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म, वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अन्तराय कर्म। हम देख चुके हैं कि कर्म पुद्गलों का जीव को

जकड़ लेना ही बन्ध है। उपर्युक्त वर्णन में बन्धन में जो पाँच कारण बताए गये हैं उनमें मिथ्यात्व का अर्थ है— सदसदविवेक; अविरति का अर्थ है— वैराग्य का अभाव अर्थात् रागादि; प्रमाद का अर्थ है— असावधानी; कषाय का अर्थ है— क्रोध, लोभ, मान और माया; तथा योग का अर्थ है— मानसिक, वाचिक, कायिक, क्रिया।

जैन दर्शन के बन्ध तत्त्व की सविस्तार व्याख्या के उपरान्त अब हम बौद्ध दर्शन के बन्ध सम्बन्धी विचारों का अवलोकन करते हैं।

4.7 बौद्धदर्शन में बन्धन विचार

बौद्ध दर्शन अविद्या को ही सांसारिक दुःखों का मूल कारण मानता है। अविद्या, कर्म और क्लेश को बन्धन, संक्लेश, मल, अशुद्धि कहते हैं। बन्ध अविद्याजन्य सास्रव विज्ञानों का प्रवाह है। बन्धन की अवस्था में विज्ञान प्रवाह में वासना—वैचित्र्य के कारण विज्ञानों का वैचित्र्य और भेद सिद्ध किया जा सकता है। अविद्या संसार का मूल कारण भी नहीं कही जा सकती क्योंकि मज्झिम निकाय में कहा गया है कि अविद्या का कारण आस्रव है।

“आस्रवसमुदया अविज्जा सुमुदयोति।”

अर्थात् आस्रव से ही अविद्या उत्पन्न होती है और फिर संस्कार आदि समस्त भव दुःखों का उत्पाद होता है। अतः अविद्या के मूल में आस्रव है और आस्रव के मूल में अविद्या। इस तरह यह भव चक्र चलता रहता है।

बौद्ध दर्शन के प्रतीत्य समुत्पादवाद में अविद्या का उल्लेख आता है। प्रतीत्यसमुत्पाद को न जानने के कारण ही मनुष्य भव बन्धन में पड़ा रहता है। भगवान बुद्ध कहते हैं— आनन्द! इस सिद्धान्त को न समझने के कारण ही यह संसार का मानव इसके अन्तस्थल तक न जानने के कारण ही उलझे सूत सा, गाँठ पड़ी रस्सी सा या मूँजबबज घास सा उलझ कर अपाय एवं दुर्गति को प्राप्त हो इसी संसार में भटकता रहता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के निरूपण के कार्य के कारण की निष्पत्ति करते हुए हम जरा—मरण से अविद्या तक पहुँचते हैं। जो निम्नवत् है—

“हमें अप्रिय—संयोग, प्रिय—वियोग, आधि—व्याधि, शोक, जरा, मरण आदि दुःख क्यों होते हैं? क्योंकि हमने जन्म लिया है। हम जन्म क्यों लेते हैं? क्योंकि हमने जन्म लेने के लिए प्रेरित करने वाले कर्म किए हैं और हमें उनका भोग करने के लिए जन्म लेने की इच्छा है। ये कर्म और यह इच्छा क्यों होती है? क्योंकि हम भोगों में आसक्त होकर उनसे चिपक रहे हैं। यह आसक्ति क्यों होती है? क्योंकि हमें भोगों की तृष्णा है। यह तृष्णा क्यों होती है? क्योंकि भोगों से इन्द्रिय संवेदन जन्य सुख मिलता है। यह संवेदन क्यों होता है? क्योंकि इन्द्रिय और विषय का सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क क्यों होता है? क्योंकि हमारे पास छः इन्द्रियाँ हैं जिनकी प्रवृत्ति विषयों से सम्पर्क करने की होती है। ये छह इन्द्रियाँ क्यों होती हैं? क्योंकि नामरूपात्मक मनोभौतिक संघात रूप देह है जिसमें ये उत्पन्न होती हैं। यह संघात क्यों होता है? क्योंकि वह विज्ञान से अनुप्रमाणित है। विज्ञान इसमें प्रविष्ट क्यों होता है? क्योंकि अविद्या कर्मों में प्रवृत्त करती है। अतः अविद्या ही इस संस्कार—चक्र रूपी दुःख का मूल कारण है।”

उक्त अविद्या जन्य संस्कार को ही बन्धन का एकमात्र कारण मानते हुए मूलमध्यम कारिका में निम्नवत् उल्लेख प्राप्त होता है—

‘न बध्यते न मुच्यन्ते उदयव्ययधर्मिणः।

संस्काराः पूर्ववत् सत्त्वो बध्यते न न मुच्यते।।’

दर्शन की न्याय-वैशेषिक धारा में अविद्याजन्य कर्म को ही बन्धन का मूल कारण माना गया है।

‘न्याय दर्शन के अनुसार जीव अपने पापमय कर्मों के अनुसार दुःख का उपयोग करता है। आत्मा जब तक शरीर से सम्बद्ध रहती है तब तक दुःखों का पूर्ण विनाश संभव नहीं है। इन्द्रिय और शरीर से सम्बद्ध रहने पर आत्मा का अप्रिय तथा अनुचित विषयों से सम्पर्क होता है और वह दुःखों से बच नहीं पाती।’

गौतम कृत न्याय दर्शन की टीका में आचार्य ढुंढिराज शास्त्री का कथन है कि शरीर सहित आत्मा का मन के साथ संयोग जो प्रारब्ध कर्म के सहित वर्तमान रहता है, उसे ही जीवन माना जाता है। यथा—

‘सदेहस्यात्मनो मनसो संयोगो विपच्यमान कर्माशय सहितो जीवनमिष्यते।’

चन्द्रधर शर्मा वैशेषिक दर्शन की अवधारणा अभिव्यक्त करते हुए बन्धन के सम्बन्ध में वैशेषिक मन्तव्य को निम्नवत् व्यक्त करते हैं—

‘बन्धन अविद्या से होता है। आत्मा, अविद्यावश, कर्म करता है; कर्म से धर्माधर्मसंस्कार अदृष्ट में सञ्चित होते रहते हैं तथा फलोन्मुख होने पर आत्मा के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि उत्पन्न होती है। ईश्वर अदृष्ट से गति लेकर परमाणुओं में आद्यस्पन्दन के रूप में सञ्चरित कर देते हैं और सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। आत्मा जब तक कर्म-जाल में फँसा है तब तक उसका बन्धन बना रहता है।’

बौद्ध दर्शन में मन एवं इन्द्रियों के बाह्य जगत के सम्पर्क में आने के कारण ही दुःख की प्रवृत्ति बताई गई है। यही बंधन है जो दुःखदायी है। दीघनिकाय में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि स्पर्श के कारण ही वेदना होती है। चक्षुसंस्पर्श, श्रोत्रसंस्पर्श, प्राणसंस्पर्श, जिह्वासंस्पर्श, कायसंस्पर्श एवं मनःसंस्पर्श— इन सब के स्पर्श न होने पर, स्पर्श का निरोध होने पर, क्या किसी वेदना की उत्पत्ति होती? नहीं।

‘फस्सपच्चया वेदना.....चक्खुसम्फस्सो सोतसम्फस्सो धानसम्फस्सो जिह्वासम्फस्सो कायसम्फस्सो मनोसम्फस्सो, सब्बसो फस्से असति फस्सनिरोधा अपि न खो वेदना पञ्चायेथा, ति? नो हेतं, भन्ते।’

संयुक्तनिकाय में उल्लेख आया है कि ये चित्त विकार ही प्राणी को दुःख और संकट में डालते हैं।

‘चित्तसंकिलेसा, भिक्खवे, सत्ता संकिलिस्सन्ति।’

इस प्रकार बौद्ध दर्शन में बन्धन की अवधारणा में चित्त की संलिप्तता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

4.8 वेदान्तदर्शन में बन्धन विचार

अद्वैत वेदान्त में बंधन को यथार्थ या वास्तविक नहीं माना जाता। सांख्य और वेदान्त दोनों में आत्मा का बन्धन वास्तविक नहीं है। वेदान्ती उसे अविद्यात्मक या अभ्यास रूप मानते हैं। आचार्य शंकर कृत ‘शतश्लोकी’ के अनुसार बन्धन और मोक्ष कल्पित हैं।

जैसे रात्रि और दिवस सूर्य में नहीं होता किन्तु यह दृष्टिदोष है। सृष्टि के पूर्व काल में शुद्ध, प्राणशून्य और एक अद्वैत तत्त्व ही था, तदन्तर में माया द्वारा कर्तृसंज्ञक ईश्वर हुआ, वह भी उससे भिन्न नहीं था किन्तु अविद्या द्वारा आच्छादित होकर जीव बन गया।

“बन्धोजन्मात्ययात्मा यदि न पुनरभूत् तर्हि मोक्षोऽपि नासीत्
यद्ब्रह्मत्रिर्दिनं वा न भवति तरणौ किन्तु दृग्दोष एषः।
अप्राणं शुद्धमेकं समभवदथ तन्मायया कर्तृसंज्ञं
तस्मादन्यच्च नासीत् परिवृत्तभजया जीवभूतं तदेव।।”

शंकराचार्य कृत ‘विवेक-चूडामणि’ में आवरण और विक्षेप को बन्धन का कारण बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार किसी दुर्दिन में सघन मेघों के द्वारा सूर्यदेव के आच्छादित होने पर अति भयंकर और ठंडी-ठंडी आँधी सबको खिन्न कर देती है, उसी प्रकार बुद्धि के निरन्तर तमोगुण से आवृत होने पर मूढ़ पुरुष को विक्षेप शक्ति नाना प्रकार के दुःखों से सन्तप्त करती है। इन दोनों (आवरण और विक्षेप) शक्तियों से ही पुरुष को बन्धन की प्राप्ति हुई है और इन्हीं से मोहित होकर यह देह को आत्मा मानकर संसार-चक्र में भ्रमता रहता है।

“क्वलितादिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेधैव्यर्थयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्या वृते मूढ बुद्धिं क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः।।
एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्।।”

‘विवेक चूडामणि’ में ही अन्यत्र उल्लेख है कि यह अज्ञानजनित अनात्म-बंधन स्वाभाविक तथा अनादि और अनन्त कहा गया है। यही जीव के जन्म, मरण, व्याधि और जरा आदि दुःखों का प्रवाह उत्पन्न कर देता है।

“अज्ञानमूलोऽयमात्मबन्धो नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः।
जन्माप्यय व्याधि जरादि दुःख प्रवाह पातं जनयत्यमुष्य।।”

इसी क्रम में— “विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा शरीर धारण करती है और यही उसका बन्धन है। अज्ञान से कर्म की उत्पत्ति होती है अतः इस दर्शन में कर्म को बन्धन का साक्षात् कारण माना गया है। बन्धन की अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहचानती और शरीर को ही अपना रूप मान बैठती है। सांसारिक जीवन में आत्मा इन्द्रिय सुखों के प्रति लालयित तथा आसक्त हो जाती है और इसी आसक्ति के कारण वह बारम्बार जन्म ग्रहण करती है और तज्जन्य दुःखों को भोगती है।

मध्वाचार्य के अनुसार आत्मा स्वरूपतः चिद्रूप तथा आनन्दरूप है किन्तु शरीर, इन्द्रिय तथा मन से सम्बद्ध होने पर दुःख और अपूर्णता का विषय बन जाती है। ऐसी स्थिति में जीव में सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही उसका अज्ञान है।

निम्बार्काचार्य का मत है कि आत्मा यथार्थतः नित्य तत्त्व है तथापि अविद्या तथा कर्म के कारण जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसकर दुःखी होती है।

शुद्धाद्वैत दर्शन में वल्लभाचार्य ने जीव का बन्धन अविद्या का परिणाम माना है।

बन्धनग्रस्त जीव अविद्या के पाँच पर्वों— देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तः करणाध्यास तथा स्वरूप विस्मृति— से बद्ध होकर संसार में अनेक कष्टों और दुःखों का अनुभव करता है।

इस प्रकार हमने देखा कि विभिन्न दर्शनों में 'बन्धन' की अवधारणा क्या है। इसके उपरान्त हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि उक्त 'बन्धन' की अवधारणा में 'मन' की क्या भूमिका है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम 'विष्णु पुराण' का एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें मन को साधिकारपूर्ण बन्धन और मोक्ष का प्रबल कारण बताते हुए उल्लेख है कि मनुष्य के बंधन या मोक्ष पाने का मन ही कारण है। मन के विषयासक्त होने से बंधन और निष्काम या निर्विषय होने से मोक्ष प्राप्त होता है।

“मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

बंधाय विषया संगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्।”

मन को बन्धन एवं मोक्ष का मुख्य कारण मानते हुए उक्त मन्तव्य को ही 'विवेक चूडामणि' में आचार्य शंकर निम्नवत अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि इस जीव के बन्धन व मोक्ष के विधान में मन कारण है, रजोगुण से मलिन हुआ यह बन्धन का हेतु होता है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्त्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।

“तस्मान्मनः कारणस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने।

बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणैर्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम्।।”

जैसे-जैसे हम सांसारिक सुखों की प्राप्ति में अपना सुख मानने लगते हैं। वैसे-वैसे हमारी आसक्ति विषयों के प्रति बढ़ती जाती है और वही सुखकर प्रतीत होने वाली वस्तुएँ हमारे दुःख का कारण बन जाती हैं। अतः महोपनिषद् में कहा गया है कि भोग की इच्छा मात्र ही बन्धन है; उसका त्याग मोक्ष कहलाता है। मोक्ष का अभ्युदय मन के विनाश से है और मन का विनाश भाग्यवान का ही होता है। ज्ञानी का मन विनाश को प्राप्त होता है और अज्ञानी का मन उसके बन्धन का कारण है।

“भोगेच्छमात्रको बन्धस्तत्यागो मोक्ष उच्यते।

मनसोऽभ्युदतो नाशो मनोनाशो महोदयः।

ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृंखला।”

मन की ऐसी गति है कि वह सांसारिक भोगों एवं चिन्तनों में स्वयं अभिमुख रहती है जबकि मोक्ष प्राप्ति हेतु उसे उद्यम करना होता है। अन्नपूर्णोपनिषद् में उल्लेख है कि 'मेरा मोक्ष हो' इस विचार के अन्तर में उत्पन्न होने पर मन का उत्थान हो जाता है किन्तु अन्य प्रकार के विचार उत्पन्न होने पर और उसमें मन लगने पर संसार का बन्धन दृढ़ होता जाता है। आत्मा सबसे परे सर्व रूप औ सर्व व्यापक है तो बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? इसलिए मन को ही निर्मल बनाओ।

“मोक्षो मेऽस्त्विति चिंताऽन्तर्जाता के दुत्थितं मनः।

मननोत्थे मनस्येष बन्धः सांसारिको दृढः।।

आत्मन्यतीते सर्वस्मात्सर्वरूपेऽथ वा तते।

को बन्धः कश्च वा मोक्षो निमूलं मननं कुरुः।।”

जैसा कि 'Beyond the Mind' नामक पुस्तक में कहा गया है कि हमारे विचार ही हमें संचालित, नियंत्रित, शंकाग्रस्त, भ्रम में उलझा हुआ एवं दुःखों में सराबोर रखते हैं।

“As long as we are trying to manipulate our lives through thought, so long will we be driven, possessed, confused, immersed in illusion and sorrow”

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस संसार की तुलना एक नदी से करते हुए और मन को इस नदी का मूल बताते हुए कहा गया है कि यह संसार एक ऐसी नदी है जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच स्रोत हैं। इस नदी का प्रवाह बड़ा ही भयंकर है। यह मन ही संसार रूपी नदी का मूल है। इन्द्रियों के विषय ही इस नदी के भँवर हैं। गर्भ, जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु का दुःख इस नदी के प्रवाह में वेगरूप हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) रूप पंचक्लेश ही इस नदी के पाँच पर्व या विभाग हैं और अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ ही इस नदी के पचास भेद हैं।

“पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चवर्ता पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चचाशब्दभेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥”

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार मन में उत्पन्न होने वाला काम ही मोह रूपी बन्धन का कारण है। इसके अनुसार, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि— ये सब इसके (काम के) वास स्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।

“इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥”

जैन दर्शन में बन्धन तत्त्व की विस्तृत रूपरेखा हम पहले ही देख चुके हैं। अब इसमें मन की क्या भूमिका है, यह निम्नवत् विश्लेषण से स्पष्ट किया जा सकता है। सर्वदर्शन संग्रह में उल्लेख है कि संसार में आने का कारण आस्रव है और मोक्ष का कारण संवर है। यही जैनों के सिद्धान्त का संक्षेप है, शेष बातें इसी का विस्तार (प्रपंच) मात्र है।

“आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्ष कारणम् ।
इतीयमार्हती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥”

अब हमें समझना होगा कि आस्रव क्या है। कर्म पुद्गल की आत्मा की ओर गति और उसमें प्रवेश आस्रव है। अब ‘कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं— योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का नाम योग है और क्रोधादि मानसिक आवेगों की संज्ञा कषाय है। कषाययुक्त प्रवृत्तियाँ कर्मबन्धन के महत्त्वपूर्ण कारण मानी गयी हैं क्योंकि उनसे उत्पन्न होने वाले कर्मबन्ध कषायरहित क्रिया से होने वाले कर्मबन्ध की अपेक्षा बलवान होते हैं। जब प्राणी अपने मन, वचन और तन से किसी भी प्रकार की क्रिया करता है तो कर्म परमाणुओं का आकर्षण अनायास होने लगता है।’

पूर्व में वर्णित चारों कर्मबन्धों— प्रदेशबन्ध, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभावबन्ध में से प्रकृति बन्धन एवं प्रदेश बन्ध योग अर्थात् मन, वचन और काय के व्यापार के कारण अवधारणा में भी मन की स्पष्ट भूमिका दृष्टिगोचर होती है।

सांख्यदर्शन की बन्धन सम्बन्धी अवधारणा से हम पूर्व में ही परिचित हो चुके हैं। जिसके अनुसार पुरुष का न तो बन्धन होता है, न वह जन्म—मरण रूपी संसार चक्र में फँसता है और न वह मुक्त होता है, यह तो प्रकृति ही है जो लिंग शरीर के रूप में, नाना पुरुषों के आश्रय से बँधती है, संस्रण करती है और मुक्त होती है।

बुद्धि, अहंकार और मन प्रकृतिजन होने से अचेतन है तथा पुरुष के चैतन्य के प्रकाश

से चेतनवत् प्रतीत होते हैं। 'पुरुष का विशेष संपर्क बुद्धि से रहता है। मन और अहंकार सहित बुद्धि समस्त विषयों का अवगाहन करती है या ज्ञान कराती है। बुद्धि सबसे सूक्ष्म है और इसलिए पुरुष की छाया उसके चैतन्य के आवेश को ग्रहण करती है। जैसे स्फटिक पत्थर समीप रखे हुए जया कुसुम के रंग को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही बुद्धि पुरुष चैतन्य की छाया ग्रहण करके पुरुष जैसी बन जाती है। ऐसी बुद्धि पुरुष के भोग को उत्पन्न या दर्शित करती है, पुरुष के भोग को साधती है। पुरुष के बन्धन और मोक्ष दोनों ही अवास्तविक अर्थात् अविवेक रूप या अविवेक द्वारा कल्पित हैं। इस अविवेक को हटाना ही बुद्धि का कार्य है।'

आयुर्वेद दर्शन भी मन को बन्धन का कारण मानते हुए कहता है कि 'जन्म-मरण का यह चक्र अथवा लिंग शरीर युक्त जीवात्मा की एक योनि से दूसरी योनि में गति को ही संसरण या संसार कहते हैं। इसका मूल कारण रजस् और तमस् ये मानस दोष हैं। तमोगुण के आधिक्य से पुरुष (मन) में मोह (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान) होता है, वह सृष्टि के पदार्थों को अपने सुख और दुःख का कारण समझता है तथा जिन वस्तुओं को अपने सुख का हेतु मानता है उन्हें प्राप्त करने की इच्छा तथा जिन्हें दुःख का हेतु मानता है उनके प्रति द्वेष उसके मन में उदित होता है। इस हेतु पुरुष प्रवृत्ति या कर्म करता है। ये प्रवृत्तियाँ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती हैं। शुभ प्रवृत्तियों का फल धर्म और अशुभ प्रवृत्तियों का फल अधर्म एवं धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुःख होता है। इन दोनों फलों के भोग के लिए पुरुष को बलात् शरीर धारण करना पड़ता है। जब तक पुरुष का मन तम एवं रजोगुण से अविष्ट रहता है तब तक मोह, इच्छा, द्वेष, प्रवृत्ति, धर्माधर्म और शरीर का क्रम अविच्छिन्न रहता है।'

योग दर्शन के अनुसार— चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। योग मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। किन्तु चित्त के विक्षेप और विघ्न इस मार्ग पर अग्रसर होने में बाधक हैं। चित्त के यही विकार मनुष्य को भव-बन्धन में ग्रसित रहने हेतु बाध्य करते हैं। पतञ्जलि कृत 'योग दर्शन' में उल्लेख है कि व्याधि (रोग), स्त्यान (अकर्मण्यता), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व (साधन करने पर भी योग की भूमियों की स्थिति का न प्राप्त होना) और अनवस्थितत्व (किसी भूमि में चित्त की स्थिति होने पर भी उसका न ठहरना)— ये नौ, जो कि चित्त के विक्षेप हैं, वे ही अन्तराय (विघ्न) हैं।

**“व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध-
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽनतरायाः ॥”**

इसके अतिरिक्त दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व (शरीर के अंगों में कम्पन होना), श्वास और प्रश्वास— ये पाँच विघ्न विक्षेपों के साथ-साथ होने वाले हैं।

“दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥”

चन्द्रधर शर्मा योग दर्शनानुसार चित्त की पाँच भूमियों को निम्नवत् व्याख्यायित करते हैं। 'चित्त की पाँच भूमियाँ हैं— क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। 'क्षिप्त' चित्त में रजोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह अस्थिर, चञ्चल और विषयोन्मुख बनकर सुख-दुःख भोगता है। 'मूढ़' चित्त में तमोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह विवेकशून्य, कर्तव्याकर्तव्यबोध रहित बनकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा में पड़ा रहता है या विवेकहीन कार्यों में प्रवृत्त होता है। 'विक्षिप्त' चित्त में सत्त्व गुण की अधिकता रहती है। किन्तु कभी-कभी रजोगुण भी जोर मारता है। 'एकाग्र' चित्त में सत्त्व का अत्यन्त

उत्कर्ष रहता है। 'निरुद्ध' की अवस्था में वृत्तियों का कुछ काल तक निरोध हो जाता है, किन्तु उनके संस्कार बने रहते हैं।'

उक्त विवेचना में यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त की भूमियाँ क्रमशः उत्तरोत्तर विकास की अवस्था में हैं। प्रथम की दो भूमियाँ अत्यन्त बन्धनकारी जबकि बाद की भूमियाँ मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाली हैं। अतः स्पष्ट है कि चित्त की वृत्तियाँ पुरुष के बन्धन की हेतु हैं।

योगवासिष्ठ भी मन को बन्धन का हेतु मानते हुए निम्नवत् उद्गार व्यक्त करती है—

**“अविद्या संसृतिश्चित्तं मनो बन्धो मलस्तमः ।
इति पर्याय नामानि दृश्यस्य विदुरुत्तमाः ॥”**

इसके उपरान्त हम न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में मन की बन्धन में क्या भूमिका है, इसका अनुशीलन करेंगे। न्याय वैशेषिकों के अनुसार हमारे बन्धन का कारण अविद्या और कर्म है। अविद्या और अज्ञान संसार के पदार्थों का मिथ्या ज्ञान है, जिसके परिणामस्वरूप जीव अनात्म पदार्थों को आत्म पदार्थ के रूप में देखता है। वास्त्यायन कहते हैं—

“तत्त्वज्ञान होने से मोह का नाश हो जाता है। मोह नष्ट हो जाने पर किसी कर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् मनुष्य शरीर, मन या वचन से कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिसका फल भोगने के लिए उसे पुनः शरीर धारण करना पड़े।”

इसका तात्पर्य यह भी निकलता है कि शरीर, मन या वचन से किए गये कर्म ही बन्धन का कारण है जिन कर्मों का फल भोगने के लिए पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। 'आत्मा जब तक कर्म-जाल में फँसा है तब तक उसका बन्धन बना रहता है। आत्मा का बाह्य पदार्थों या मानस भावों से सम्पर्क मन और इन्द्रियों के द्वारा या केवल मन के द्वारा होता है। इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में रहती हैं। अतः आत्मा शरीरेन्द्रियमनः संयुक्त होने पर ही बाह्य विषयों के सम्पर्क में आ सकता है।'

उक्त भाव कारिकावली के निम्न श्लोक का स्पष्टीकरण प्रतीत होते हैं। जिसके अनुसार सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि मन के ही कार्य हैं।

**“द्रव्याध्यक्षे त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।
मनोग्राह्यं सुखं-दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ॥”**

पूर्व मीमांसा भी न्याय-वैशेषिक के ही मत को मान्यता देती है। इसके अनुसार 'हमारे बन्धन और सशरीरी होने का कारण यह है कि हमें हमारे पाप और पुण्य कर्मों के फलों को भोगना पड़ता है।..... आत्मा के गुण केवल तभी प्रकट होते हैं जब उसका संयोग मन से होता है और मन की सत्ता शरीर से अलग नहीं रह सकती।' ऐसा प्रभाकर का मत है। इसके अनुसार यह स्पष्ट है कि हमारे पाप और पुण्य कर्म बन्धन का कारण हैं और ये कर्म मन के द्वारा प्रेरित एवं शरीर द्वारा आत्मा के माध्यम से संचालित होते हैं।

अद्वैत वेदान्त के स्तम्भ आचार्य शंकर कृत 'विवेक चूडामणि' में मन को ही अविद्या सिद्ध करते हुए कहा गया है कि अविद्या ही बन्धन का कारण है।

'विवेक चूडामणि' के अनुसार क्रिया रूपा विक्षेपशक्ति रजोगुण की है जिससे सनातन काल से समस्त क्रियायें होती आई हैं और जिससे रागादि और दुःखादि, जो मन के

विकार हैं, सदा उत्पन्न होते हैं।

‘विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्ति प्रसृता पुराणी ।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ॥’

मन को ही अविद्या बताते हुए इस ग्रन्थ में यह उल्लेख है कि मन से अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है, मन ही भवबन्धन की हेतुभूता अविद्या है। उसके नष्ट होने पर सब नष्ट हो जाता है और उसी के जागृत होने पर सब कुछ प्रतीत होने लगता है।

‘न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनोह्यविद्या भवबन्ध हेतुः ।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥’

उक्त भाव को ही अन्य शब्दों में उपमापूर्ण ढंग से बताते हुए उल्लेख है कि तत्त्वदर्शी विद्वान् मन को ही अविद्या कहते हैं जिसके द्वारा वायु से मेघमण्डल की भाँति यह सम्पूर्ण विश्व भ्रमाया जा रहा है।

‘अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम् ॥’

इस प्रकार मन को ही बन्धन का कारण बताते हुए आचार्य शंकर यह उद्घोष करते हैं कि मेघ वायु के द्वारा आता है और फिर उसी के द्वारा चला जाता है। इसी प्रकार मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की।

‘वायुनानीयते मेघः पुनस्तैनैव नीयते ।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ॥’

शंकराचार्य कहते हैं कि बन्धन का मूल कारण जीव का स्वयं के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह उस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है। इस प्रकार जीव का बन्धन केवल उसकी कल्पना में ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं है। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं है। इसलिए यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष प्राप्त करता है।

किन्तु क्या अन्य अद्वैत वेदान्ती भी शंकराचार्य के उक्त मतों से सहमत हैं। इसके उत्तर में चन्द्रधर शर्मा निम्न तथ्यों का उल्लेख करते हैं—

‘मण्डन मिश्र जीव को अविद्या का आश्रय और ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं। अविद्या के आवरण और विक्षेप दो रूप हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार— एक अविद्या मानसिक है जिसे टीकाकार अमलानन्द ने ‘पूर्वापूर्वभ्रम संस्कार’ बताया है। दूसरी अविद्या वैषयिक है जो जीव और जगत् का उपादान कारण है। सुरेश्वराचार्य, पद्मापादाचार्य एवं अन्य अद्वैती मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र से इस विषय में सहमत नहीं हैं कि अविद्या का आश्रय जीव है या कि अविद्या मानसिक भ्रान्ति है। इनके अनुसार ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों हैं। अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं अविद्याजन्य है। अविद्या मानसिक भ्रम नहीं हो

सकती क्योंकि वह जीव और जगत् दोनों का उपादान कारण है।'

मानव बन्धन की व्याख्या करते हुए शुद्धाद्वैत वेदान्त के प्रणेता वल्लभाचार्य केवल यही कहते हैं कि— 'जीव के बन्धन का कारण अविद्या है। परन्तु अविद्या का स्वरूप तथा वह जीव को किस प्रकार बाँधती है, इस पर वल्लभ मौन हैं। दूसरे, वल्लभ विश्वास करते हैं कि मानव बन्धन वस्तुतः सत्य है। वल्लभ केवल कुछ ही जीवों को मोक्ष के योग्य समझते हैं, शेष सभी की नियति या तो संसार चक्र में घूमते रहना है या नरक में सड़ते रहता है।'

उक्त के सम्बन्ध में एक अन्य स्पष्टीकरण पर हम दृष्टिपात करते हैं। जिसके अनुसार, 'यह जगत् का प्रपञ्च सच्चिदानन्द भगवान की इच्छा से उनके सदंश से आविर्भूत होने के कारण ब्रह्मरूप होने से सत्य तथा नित्य है। जगत् के विपरीत संसार या जीवन का जन्म मरण चक्र अविद्या कल्पित है। यह अविद्या पञ्चपर्याय है— 1. जीव का स्वरूपाध्यास, 2. देहाध्यास, 3. इन्द्रियाध्यास, 4. अन्तःकरणाध्यास। जब तक अविद्या है तब तक संसार है। ज्ञान के उदय होने पर अविद्या निवृत्ति के साथ ही संसार की भी निवृत्ति हो जाती है।'

इस प्रकार हम पाते हैं कि वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त में अविद्या की अवधारणा में इन्द्रियाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास के रूप में मन की स्पष्ट भूमिका है।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार 'जीवों का बन्धन अविद्या और कर्म के कारण है। बन्धन और मोक्ष दोनों वास्तविक हैं। कर्म के कारण जीव का देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से सम्बन्ध होता है और यही उसका बन्धन है। शुद्ध चेतन जीव कर्म में क्यों फँसता है? इसका कोई उत्तर नहीं है सिवाय इसके कि कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध अनादि है।'

जैसा कि स्पष्ट होता है कि कारण जीव का मन आदि इन्द्रियों और अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है जो मानव को बन्धन ग्रस्त बनाती है।

'मध्व के अनुसार जीव वास्तविक कर्ता और भोक्ता है। परन्तु उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वतन्त्र नहीं है, वे ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हैं। मध्व का यह दृढ़ विश्वास है कि इस तथ्य को जानना ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है और इस तथ्य को न जानना ही अविद्या और परिणामस्वरूप बन्धन है। अविद्या, कर्म, प्रकृति इत्यादि बन्धन के कारण केवल गौण रूप से ही है। मुख्य रूप से वह ईश्वर की इच्छा ही है जो मानव बन्धन का एकमात्र कारण है। मध्व कहते हैं कि जीव का बन्धन सत्य है। यदि मानव बन्धन काल्पनिक होता तो शास्त्र उसे दूर कर मोक्ष प्राप्त करने का आदेश हमें क्यों देते? शास्त्रों में स्पष्ट रूप से पाँच प्रकार के बन्धनों की चर्चा की गई है— 1. अविद्या बन्ध, 2. लिंग देहबन्ध, 3. परमच्छादक प्रकृति बन्ध, 4. काम बन्धन, 5. कर्म बन्ध।'

इस प्रकार मध्व के दर्शन में बन्धन की अवधारणा में मन की भूमिका स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होती। इसका अन्तिम निष्कर्ष है— 'हरि इच्छा गरीयसी'।

निम्बार्क मत का उल्लेख करते हुए डॉ० अशोक कुमार लाड का मत है कि— 'रामानुज और मध्व से निम्बार्क इन विषयों पर सहमत हैं कि मानव-बन्धन और मोक्ष का अन्तिम कारण ईश्वर की इच्छा ही है; मानव बन्धन वस्तुतः सत्य है।'

भारतीय दर्शन के सभी शाखाओं ने जीवन और जीवन बन्धन पर विचार किया है। कर्मानुसार जन्म ग्रहण करना एवं दुःख सहते रहना, बन्धन का कटु स्वरूप है। इस सिद्धान्त पर प्रत्येक भारतीय दर्शन एकमत है। केवल विचार शाखाओं में कुछ भेद है। जैसे वेदान्त के अनुसार जीवात्मा सदा बन्धनमुक्त है। वहीं जैन दर्शन के अनुसार जीव को ही बन्धन के दुःख भोगने पड़ते हैं। जीव अनन्त है। स्वाभावतःपूर्ण है। किन्तु वह चेतनद्रव्य है। शरीर धारण करने के कारण जीव को संसार के बन्धन घेर लेते हैं। सदज्ञान और सदाचार के माध्यम से जीव बन्धन मुक्त हो जाता है। बुद्ध ने कहा चार आर्यसत्त्यों का ज्ञान नहीं होना बन्धन का कारण है। चार आर्यसत्त्यों का ज्ञान प्राप्त करके जीव मुक्त हो जाता है।

न्यायवैशेषिक में जीव के द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति न होना बन्धन का कारण है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर वह मुक्त हो जाता है। सांख्यदर्शन ने जीव के अध्यात्मिक आधिभौतिक और आर्ध्वदैहिक बन्धन को स्वीकार किया है। जीव को विवेक ज्ञान हो जाने पर अर्थात् यह ज्ञान की पुरुष अलग और प्रकृति अलग है, वह बन्धन मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सभी दर्शनों ने अज्ञान को बन्धन का कारण और ज्ञान को बन्धन से मुक्ति का साधन माना है। केवल बन्धन के स्वरूप के विवेचन में किंचित भिन्नता है। समग्र भारतीय दर्शन के बन्धन सम्बन्धी चिन्तन को हम सार रूप में एक चार्ट के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं, इसका अवलोकन करें।

दृष्टिकोण	सारांश
उपनिषद्	<ul style="list-style-type: none"> i. भोग की इच्छा मात्र ही बंधन है। ii. अज्ञानी का मन उसके बंधन का कारण है। iii. 'मेरा मोक्ष हो' के अतिरिक्त अन्य विचारों में मन लगने पर संसार का बन्धन दृढ़ होता जाता है। iv. मन संसार रूपी नदी का मूल है।
सांख्य दर्शन	<ul style="list-style-type: none"> i. मन और अहंकार सहित बुद्धि समस्त विषयों का अवगाहन करती है। ii. बुद्धि, अहंकार और मन प्रकृतिजन होने से अचेतन है तथा पुरुष के चैतन्य के प्रकाश से चेतनवत् प्रतीत होते हैं। iii. बुद्धि सबसे सूक्ष्म है और इसलिए पुरुष की छाया उसके चैतन्य के आवेश को ग्रहण करती है। iv. पुरुष का बन्धन अविवेकरूप है। इस अविवेक को हटाना ही बुद्धि का कार्य है।
योगदर्शन	<ul style="list-style-type: none"> i. चित्त के विक्षेप और विघ्न रूपी विकार मनुष्य को भव-बन्धन में ग्रसित रहने हेतु बाध्य करते हैं। ii. रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व— ये नौ चित्त के विक्षेप हैं। iii. दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पाँच

	विघ्न हैं। चित्त की वृत्तियाँ पुरुष के बन्धन की हेतु हैं।
न्याय-वैशेषिक	i. शरीर, मन या वचन से किये गये कर्म ही बन्धन का कारण है।
पूर्व मीमांसा	i. आत्मा के गुणों का प्रकटीकरण मन के संयोग से होता है।
अद्वैत वेदान्त	i. मन ही अविद्या है। जो भव-बन्धन की हेतुभूता है। ii. बन्धन मानसिक है- सत्तागत नहीं है। अतः व्यावहारिक रूप से सत्य किन्तु पारमार्थिक रूप से असत्य है।
अन्य वेदान्त दर्शन	i. वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त में अविद्या की अवधारणा में इन्द्रियाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास के रूप में मन की भूमिका स्पष्ट है। ii. कर्म के कारण जीव का मन आदि इन्द्रियों और अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है जो मानव को बन्धनग्रस्त बनाती है।- रामानुजाचार्य iii. मानव बन्ध काल्पनिक नहीं अपितु सत्य है। - मध्वाचार्य।

4.10 पारिभाषिक शब्दावली

प्रबोध : ज्ञान का न होना बन्धन है।

4.11 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2008
3. गीतारहस्य, बालगंगाधर तिलक, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, 2017

4.12 बोधप्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया तथा उससे मुक्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
2. मन ही बन्धन का कारण है, इस कथन की विवेचना भगवद्गीता के आलोक में कीजिए।
3. बन्धन से सम्बन्धित भगवद्गीता में उल्लिखित महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ अपने शब्दों में लिखिए।
4. निष्काम कर्म से जीव को बन्धन नहीं प्राप्त होता, इस कथन की पुष्टि कीजिए।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY